निबन्ध माला

•

सम्पादक

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

निबन्ध माला

•

सम्पादक
डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

अनुक्रम

भूमिका

एक बार प्लेटो ने कहा था : 'I am no writer of history', किन्तु डायोजेनीस (Diogenes) ने उत्तर दिया था : Every great writer is a writer of history, let him treat on almost what subject he may. He carries with him for thousands of years a portion of his times'। इसी 'portion of his times' को ढूंढ़ने का प्रयास प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्य के अध्ययन में डूबा रहता है। साहित्य के पृष्ठों में अपने को ढूंढ़ने के लिए आज का मानव जितना सचेष्ट है उतना वह पहले कभी नहीं था। मनुष्य के सुख-दुःख की परिधि में उस साहित्यिक क्रम के शाश्वत होते हुए भी साधारणतः उसकी गति हमारी सामान्य दृष्टि से ओझल रहती है। साहित्य का निर्माता कोई महापुरुष हमारे बीच भले ही विद्यमान हो, किन्तु छोटे-से वर्तमान काल के भीतर वह और प्रतिक्षण बनने वाला साहित्य हमें एक साथ ही दृष्टिगोचर नहीं होता। तब भी हमारा दृष्टिकोण अविच्छिन्न रूप से साहित्य की गति-विधि के साथ सम्बद्ध रहता है। अतीत और भविष्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करके ही साहित्य अपने अस्तित्व के सत्य की घोषणा करता है। विश्व-मानव अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक साहित्य के झरोखे से ही अतीत की गुफ़ा में से प्रवाहित अपनी जीवन-धारा को देखता और अपने गम्भीरतम उद्देश्यों को विविध प्रकार की साधनाओं, भूलों और संशोधनों द्वारा प्राप्त करता हुआ अपने भावी जीवन को सिंचित होते हुए देखने की उत्कट अभिलाषा रखता है। अतीत की प्रेरणा और भविष्य की चेतना नहीं तो साहित्य नहीं। अतीत, वर्तमान और भविष्य की कड़ियों की अनन्त शृंखला के रूप में भावों

की वृद्धि होती चली जाती है और मनुष्य अपनी प्रगति के नियमों और सिद्धान्तों को, अपनी वास्तविक सत्ता के विकास को 'मंगल के कंकण पहने दोनों हाथों से आवृत' किए रहता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि विश्व-मानव का विराट् जीवन साहित्य द्वारा आत्म-प्रकाश करता आया है। ऐसे साहित्य की गति-विधि आँकने का तात्पर्य कवियों और लेखकों की जीवनियों, भाषा तथा पाठ-सम्बन्धी अध्ययनों तथा साहित्यिक रूपों आदि का अध्ययन करना मात्र ही नहीं है, वरन् उसका सम्बन्ध संस्कृति के इतिहास से है, मनुष्य के मन से, सभ्यता के इतिहास मे साहित्य द्वारा सुरक्षित मन से, है। हम मथुरा के मन्दिरों की तुलना मदुरा के मन्दिरो से भले ही करें, किंतु ये भव्य मन्दिर सचित मानवी अनुभव की अबाध धारा के प्रतीक ह, यह हमे भूल न जाना चाहिए। साहित्य भी केवल अध्यापको द्वारा पढाई जाने वाली चीज़ नही है, वरन् वह मनुष्य के शाश्वत जीवन मे आनन्द और अमृत का चिह्न है। हम अनेक छोटे-बडे ग्रयों, पत्र-पत्रिकाओं, जीवनियों, युग की प्रवृत्तियों का अध्ययन आदि करके मनुष्य की रचनात्मक शक्ति की ही व्याख्या करते हैं और व्यक्ति को व्यापकत्व प्रदान करते है। साहित्य जीवन का अनुकरण करता है, किन्तु उस दृष्टि से नहीं जिस दृष्टि से अर्थशास्त्र या इतिहास जीवन का अनुकरण करता है। उसमे कलाकार की प्रतिभा द्वारा एक युग की आत्मा 'The universal mind of man.' अभिव्यक्त होता है। इसलिए एक विशेप युग के साहित्य की गति-विधि का अध्ययन करना मनुष्य के मन की लम्बी यात्रा की एक मंज़िल का अध्ययन करना है, और मानव-सभ्यता के इतिहास में इस प्रकार के अध्ययन अत्यन्त मूल्यवान् हैं।

हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओ में गद्य-साहित्य का आविर्भाव भारतीय जीवन मे उस मंज़िल का द्योतक है जब वह मध्ययुगीन वातावरण से बाहर निकल कर वैज्ञानिकता का प्रतीक बना। हमारा समूचा गद्य-साहित्य जीवन के परिष्करण और उत्थान का साहित्य

है। आज उसके माध्यम द्वारा हम अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आए हैं। संसार के लगभग सभी प्राचीन साहित्यों में काल्पनिक या काव्य-साहित्य को प्रधानता मिली है। साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि मौखिक रूप में किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य या मानसिक भावावेग का वर्णन करने वाला पहला व्यक्ति कवि रहा होगा। वैसे भी मनुष्य के जीवन में बुद्धि-तत्त्व से पहले हृदय-तत्त्व का स्थान है। काल्पनिक या काव्य-साहित्य के अतिरिक्त ज्ञानवर्द्धक साहित्य को साहित्य की शास्त्रीय परिभाषा के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया जाता। विश्व-साहित्य के इस विकास-क्रम में भारतीय साहित्य अपवाद-स्वरूप नहीं रहा। संस्कृत में काव्य ही लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला माना गया है। ईसा की नवीं दसवीं शताब्दी से अपभ्रंश-परम्परा टूट जाने के बाद लगभग सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यों ने संस्कृत के आदर्शों का पालन किया। अरबी-फ़ारसी साहित्यों के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने पर भी गद्य-रचना को कोई प्रोत्साहन न मिल सका। अतएव हिंदी-गद्य के लिए ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि उससे पहले भी गद्य मिलता है, किन्तु कम और स्फुट रूप में। उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व वह साहित्य का प्रधान अंग न बन पाया था। ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवर्ष में एक नवीन युग की अवतारणा हुई। उस समय भारत-वासियों का पश्चिम की एक सजीव और उन्नतिशील जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। यह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रांति के बाद की सभ्यता लेकर आई थी। उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारों और प्रवृत्तियों से हिंदी साहित्य अछूता न रह सका। शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परि-स्थितियों के कारण गद्य जैसे नवीन साहित्यक माध्यम की आवश्यकता हुई और वास्तव मे गद्य के द्वारा ही हिंदी में आधुनिकता का बीजा-रोपण हुआ (उन्नीसवी शताब्दी पूर्वार्द्ध में), न कि काव्य द्वारा। वास्तव

से एक नवीन युग से एक नवीन चिंतन-पद्धति से परिचित-पोषित शिक्षित समुदाय के आविर्भाव के कारण हिंदी में गद्य-परम्परा के क्रमबद्ध इतिहास का सूत्रपात पहले-पहल उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हिंदी में गद्य का पूर्ण अभाव नहीं था। वास्तव में गद्य के विकास के लिए एक से अधिक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण गद्य का विकास [illegible] तीव्र गति से हो गया था। हिन्दी साहित्य के खोज विद्यार्थियों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के हिन्दी गद्य के स्फुट उदाहरण उपलब्ध हो चुके हैं, यद्यपि अभी बहुत कार्य शेष है। जो सामग्री अभी तक उपलब्ध हुई है वह दान-पत्रों, पट्टे-परवानों, सनदों, वार्ताओं, टीकाओं आदि के रूप में है। और क्योंकि उस समय हिन्दी प्रदेश के राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक चेतना के प्रधान केन्द्र व्रज और राजस्थान में थे, इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के गद्य के स्फुट उदाहरण भी व्रजभाषा और राजस्थानी में मिलते हैं। मुसलमानी शासन-काल में खड़ीबोली का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो गया था और उसने मुस्लिम राज-दरबारों में अपना स्थान बना लिया था; उसका प्रभाव हिन्दी कवियों पर पड़े बिना न रह सका। किन्तु परम्परा के अनुसार व्रजभाषा और राजस्थानी काव्य-भाषाएँ बनी रहीं और जब किसी ने भूले-भटके गद्य-रचना प्रस्तुत की तो इन्हीं दो भाषाओं का प्रयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ज्यों-ज्यों परिस्थिति बदलती गई, सर जॉर्ज ग्रियर्सन के शब्दों में ज्यों-ज्यों 'कलकत्ता सिविलाइज़ेशन' का प्रचार एवं प्रसार होता गया, त्यों-त्यों साहित्य तथा व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र में खड़ीबोली प्रधानता ग्रहण करती गई। सच बात तो यह है कि खड़ीबोली को उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ या उससे कुछ पहले से नवीन शासकों और प्रेस-जैसे वैज्ञानिक आविष्कार का आश्रय प्राप्त हुआ और कलकत्ता उसका विकास-केन्द्र बना। इस प्रकार उसमें एक नवीन युग की नवीन चेतना एवं प्रेरणा के फलस्वरूप गद्य का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत हुआ।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी साहित्य परम्परा और रूढ़ि का अनुसरण कर रहा था। नवीनता यदि मिलती है तो वह केवल खड़ी-बोली गद्य के रूप में—नवीन इस अर्थ मे कि इसी समय वह साहित्य का एक प्रमुख और स्थायी अंग बना। हमें इस समय खड़ीबोली गद्य की निश्चित अटूट परम्परा मिलने लगती है जिससे उसके उज्ज्वल भविष्य का पता भी चलता है। खडीबोली ने अपने बाल्य-काल में ही संसार के जिन विविध विषयों का भार वहन किया उसे देखकर आश्चर्य हुए विना नही रह सकता। प्राथमिक शिक्षा, गणित, बीजगणित, ज्यामिति, क्षेत्र-विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति, आईन, कृषि-कर्म, ग्राम-शासन, ग्राम-जीवन, तार, कला-दस्तकारी, शिक्षा, यात्रा, नीति, धर्म, ज्योतिष, दर्शन, अँग्रेज़ी राज्य और शिक्षा, कथा-कहानी, छन्द-शास्त्र, व्याकरण, कोष, संग्रह-ग्रन्थ (गद्य-पद्य) आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित छोटे-बड़े ग्रंथों का निर्माण खड़ीबोली में हुआ। हिंदी प्रदेश के जीवन में आधुनिकता का बीजारोपण खड़ीबोली की इन्ही गद्य-रचनाओं से माना जाना चाहिए। इसी आधु-निकता का विकास हमें भारतेन्दु-युग में मिलता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन, फ़ोर्ट विलियम कॉलेज, ईसाई पादरियों, सरकारी शिक्षा-आयोजनाओं तथा विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं, समाचार-पत्र-कला और इन सबसे किसी-न-किसी रूप में संबंधित अथवा प्रारम्भ मे ही पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के माध्यम द्वारा खड़ीबोली गद्य का विकास हुआ। वास्तव में यदि खड़ीबोली गद्य के इतिहास को हिंदी-प्रदेश के जीवन में बढ़ते हुए पाश्चात्य प्रभाव का इतिहास कहे तो अनुचित न होगा।

खड़ीबोली गद्य साहित्य के सम्बन्ध मे यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में अधिकतर उपयोगी और व्याव-हारिक विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ ही निर्मित हुईं; इस समय खड़ी बोली में नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि के रूप मे ललित

साहित्य की रचना न हो सकी, क्योंकि भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा खड़ी-बोली का विकास हुआ लगभग उन सभी में नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण ही सन्निहित था। इसमें ललित साहित्य का सृजन उस समय हुआ जब वह साहित्यकारों द्वारा सँवारा जाने लगा। यह कार्य उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध और बीसवी शताब्दी मे सम्पन्न हुआ। खड़ीबोली गद्य की यह गाथा हिंदी प्रदेश के नवजीवन की प्रभातकालीन चेतना, स्फूर्ति, ग्राहिका-शक्ति और गतिशीलता की आशा भरी गाथा है। जिस दिन खड़ीबोली गद्य का कोई भी प्रथम पृष्ठ प्रेस मे मुद्रित हुआ होगा वह दिन निस्सन्देह साहित्यिक क्रान्ति का दिन था।

सन् १७४० और १८०० के बीच रामप्रसाद 'निरजनी', दौलत-राम, मथुरानाथ शुक्ल और सदासुखलाल 'नियाज' की प्रारम्भिक खड़ी-बोली-रचनाओ के बाद हिन्दी गद्य के उन्नायकों में इंशाअल्ला खां, लल्लू लाल और सदल मिश्र के नाम उल्लेखनीय है। इंशा उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे। उनकी मृत्यु सन् १८१८ मे हुई। 'उदयभानचरित' या 'रानी केतकी की कहानी' (सन् १७९८ और १८०३ के बीच मे रचित) उनकी छोटी-सी, किन्तु प्रसिद्ध रचना है। इस रचना का निर्माण ठेठ खड़ीबोली में हुआ है। इंशा के रचना-काल के आसपास ही लल्लूलाल का रचना-काल है। वैसे तो लल्लूलाल जी की 'माधोनल', 'राजनीति', 'ब्रजभाषा व्याकरण', 'सभा-विलास', 'लाल चन्द्रिका' आदि कई रचनाएँ है, किंतु 'प्रेमसागर' (सन् १८०३-१८१०) के कारण ही उनका नाम अधिक लिया जाता है। 'प्रेमसागर' मे भागवत दशम स्कन्ध की कथा है। उन्होंने विदेशी (अरबी-फ़ारसी) शब्दों को बचाकर गद्य लिखने की प्रतिज्ञा की थी। उनकी भाषा में पण्डिताऊपन है और उस पर काव्य-भाषा (ब्रजभाषा) का प्रभाव है। लल्लूलाल के उपरान्त सदल मिश्र कृत 'नासि-केतोपाख्यान' और 'राम-चरित्र' नामक खड़ीबोली के दो प्रसिद्ध ग्रथ है। पहले ग्रथ मे नचिकेता की प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। दूसरा अध्यात्म

रामायण (संस्कृत) का अनुवाद है। सदल मिश्र ने व्यवहारोपयोगी भाषा का प्रयोग किया है, यद्यपि ब्रजभाषा और पूरबी बोली का उस पर प्रभाव मिलता है।

आगे चलकर सन् १८०३ और १८५८ के बीच खड़ीबोली गद्य में नाटक, उपन्यास आदि की रचना तो नहीं हुई, किन्तु विविध शिक्षा-संस्थाओं में पठन-पाठन की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए इतिहास, भूगोल, राजनीति, अर्थनीति, ज्योतिष, विज्ञान, यात्रा, स्त्री-शिक्षा आदि से सम्बन्धित व्यावहारिक और उपयोगी साहित्य की प्रचुर मात्रा में रचना हुई। प्रेस ने इस कार्य में पूर्ण सहयोग दिया। श्रीलाल, वंशीधर, कुंज-बिहारी लाल, जवाहरलाल, शिवप्रसाद, एम० टी० ऐडम आदि अनेक देशी-विदेशी लेखकों ने खड़ीबोली गद्य को समृद्ध बनाया। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों के लेखकों के अतिरिक्त इसी समय ईसाई पादरियों ने अपने धार्मिक (बाइबिल) और प्रचार-ग्रंथों के खड़ीबोली में अनुवाद किए। यद्यपि ईसाई पादरियों की भाषा में व्याकरण, मुहावरों आदि की दृष्टि से शिथिलता मिलती है, तो भी खड़ीबोली गद्य के प्रचार में उनसे यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में हिन्दी-पत्रकार-कला से भी खड़ीबोली गद्य को प्रोत्साहन मिला। सन् १८२६ में पं० युगलकिशोर शुक्ल द्वारा संपादित हिन्दी का सर्वप्रथम समाचार-पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् 'वंगदूत', 'प्रजामित्र', 'बनारस अखबार', 'समाचार सुधावर्षण' आदि पत्रों के प्रकाशन द्वारा हिन्दी गद्य में पुष्टता आई और वह जीवन की अनेकानेक समस्याओं के सुलझाने योग्य बना था।

सन् १८५७ के विद्रोह के बाद राजनीतिक दृष्टि से देश में शान्ति स्थापित हो गई थी। इसी वर्ष कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई, और फिर आगे चलकर पंजाब, प्रयाग आदि विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त नवीन शिक्षा के माध्यम से हिन्दी-भाषा-भाषियों का पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क बढ़ा। नव-शिक्षा के कारण लोगों के विचारों में परिवर्तन हुए और रेल,

आवश्यक है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उसका विकास नवोदित राष्ट्रीयता और नवोत्थान की भावना के अन्तर्गत हुआ था। इस भावना ने एक ओर जहां धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र मे सजीवता एवं सप्राणता का संचार किया, वहां दूसरी ओर भाषा के प्रचार के लिए भी लोगों को प्रेरित किया। भारतेन्दु के जीवन-काल में आर्य समाज आन्दोलन जन्म ले चुका था। उनके जीवन के अन्तिम वर्ष में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के साथ-साथ हिन्दी-प्रचार कार्य भी आगे बढ़ता गया। केवल जनता मे ही हिन्दी का प्रचार नही किया गया, वरन् राजकीय क्षेत्रो मे भी हिंदी के व्यवहार पर जोर दिया गया। हिन्दी के इस आन्दोलन मे देश के बड़े-बड़े नेताओ ने भाग लिया। जिस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी मे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी-प्रचार-कार्य मे प्रमुख भाग लिया, उसी प्रकार बीसवी शताब्दी मे भी उन्होंने इस पुनीत कार्य मे भरपूर योग दिया। कहना न होगा कि बीसवी शताब्दी मे इन पत्र-पत्रिकाओ मे 'सरस्वती' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'सरस्वती' के सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। भारतेन्दु-युग मे गद्य का जो विकास हुआ था वह अब शतधा होकर प्रस्फुटित हुआ। इतना ही नही, भाषा के परिमार्जन-परिष्करण का जो कार्य शेष रह गया था वह भी द्विवेदी जी के द्वारा सम्पन्न हुआ।

नवीन राष्ट्रीयता के साए मे हिन्दी-प्रचार का कार्य बीसवी शताब्दी मे अधिकाधिक बढता गया। स्थान-स्थान से पत्र निकले, सभा-सोसाइटियाँ स्थापित हुईं, सरकार के पास शिष्ट-मण्डल भेजे गए और लेखकों ने अपनी मौलिक एवं अनूदित रचनाओं द्वारा भाषा को समृद्ध बनाने की चेष्टा की। हिन्दी-प्रेमियो मे उस समय दो प्रकार के लोग थे। एक तो वे थे जो मूलतः हिन्दी-सेवी थे। दूसरे वे थे जो देश भक्ति से प्रभावित हो हिन्दी-सेवा की ओर उन्मुख हुए थे। स्पष्ट है दूसरे प्रकार के लोगो में अनेक तो ऐसे थे जो हिन्दी से भली भांति परिचित न थे, और न वे हिंदी प्रान्त के निवासी थे। इससे हिन्दी मे प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग

किया जाने लगा। स्वयं हिन्दी प्रान्त में हिन्दी-उर्दू का संघर्ष था। अतएव हिन्दी का प्रचार करने के साथ-साथ लोग उसका मनमाने ढंग से व्यवहार करने लगे। व्याकरण के भी नियमों की अवहेलना की जाने लगी! बड़े-बड़े लेखक तक इस दोष के मुक्त न रह सके। भारतेन्दु के समय में व्रजभाषा के रूपों का प्रयोग तो होता ही था, धीरे-धीरे उर्दू की शैली भी हिन्दी गद्य में प्रवेश करने लगी। नए-नए भावों और विचारों को प्रकट करने के लिए लेखक मनमाने ढंग से शब्द गढ़ने लगे। आर्य समाज आन्दोलन, बँगला से अनुवादों और नवोत्थान-कालीन भावना के कारण भाषा में ऐसे-ऐसे संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा जो हिन्दी की अपनी निजी शैली में खप नही पा रहे थे। द्विवेदी-युग में भावों, विचारों और विषयों के साथ-साथ अनेक शासन-सम्बन्धी, न्याय-पद्धति-संबंधी, शिक्षा सम्बन्धी, ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी, अँगरेज़ी, बँगला, मराठी, संस्कृत आदि से शब्द-ग्रहण कर भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति बढ़ाई गई। यह कार्य भारतेन्दु-युग में ही प्रारम्भ हो गया था। समयानुसार द्विवेदी-युग में वह और आगे बढ़ा।

द्विवेदी-युग शब्द-भंडार की वृद्धि के अतिरिक्त गद्य की विविध शैलियों के लिए भी स्मरण रहेगा। इस समय अँगरेज़ी की लाक्षणिकता, बँगला की कोमल-कान्त-पदावली, अलंकारों, उर्दू की मुहावरेदानी से समन्वित शैलियों के साथ-साथ प्रेमचन्द और 'प्रसाद' जैसे लेखकों की कृतियों में हिन्दी की निजी शैलियों का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक लेखकों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुरूप शैलियों को जन्म दिया। इस युग में बालमुकुन्द गुप्त (सन् १८६५-१९०७), माधव मिश्र (सन् १८७१-१९०७), पद्मसिंह शर्मा (सन् १८७६-१९३३), गोविन्दनारायण मिश्र (सन् १८५९-१९२६), पूर्णसिंह (सन् १८८१-१९३१), प्रेमचन्द (सन् १८८०-१९३६), 'प्रसाद' (सन् १८८९-१९३७), रामचन्द्र शुक्ल (सन् १८८४-१९४१), श्यामसुन्दरदास (सन् १८६४-१९३८) ने व्यंग्यात्मक वर्णनात्मक, विचारात्मक, आलोचनात्मक, भावात्मक, हास्यात्मक, तर्क-

प्रधान, नाटकीय, [illegible], संवादात्मक आदि अनेक प्रकार की शैलियों को जन्म दिया। इन शैलियों के माध्यम द्वारा वे मानव-मन की अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक बातों का विश्लेषण करने लगे। उदाहरणार्थ, 'शिवशम्भु के चिट्ठे' और 'चिट्ठे और खत' में बालमुकुन्द गुप्त व्यंग्यपूर्ण शैली का सुन्दर रूप प्रस्तुत करते है। रामचन्द्र शुक्ल की विचारात्मक शैली के दर्शन 'विचार वीथी' और 'चिन्तामणि' मे होते है। 'रसज्ञ-रंजन', 'साहित्य-सीकर' आदि मे महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचनात्मक, व्यंग्यात्मक, तर्क-प्रधान आदि शैलियों का निर्वाह हुआ है। 'प्रसाद' और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की अलंकृत भाषा-शैलियाँ भी द्विवेदी-युग मे उत्पन्न हुई थी। पद्मसिंह शर्मा की चुटीली और व्यंग्यात्मक शैली का जन्म भी इसी समय हुआ।

हिन्दी की विविध शैलियों मे से कुछ तो मौलिक थी, कुछ अनुकरण मात्र थी। जो शैलियाँ बँगला, मराठी, उर्दू, अँगरेजी आदि के अनुकरण पर निर्मित हुई थी, उनका आज अस्तित्व नही रह गया है। हिन्दी की केवल अपनी विशेषताओं से सम्बन्धित शैलियाँ रह गई है। वास्तव मे अनेक प्रभावों के बीच हिन्दी गद्य अपना 'अपनापन' सुरक्षित रख सका, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है और यह बात उसकी मूल शक्ति का परिचय देती है।

विविध प्रकार की भाषा-शैलियों के साथ-साथ द्विवेदी-युग मे गद्य-साहित्य के विविध रूपों का सर्जन भी अत्यन्त तीव्र गति से हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि की रचना तो हुई थी, किन्तु द्विवेदी युग मे उनकी कला, रचना-पद्धति, प्रकार आदि की दृष्टि से और भी अधिक विकास हुआ। कहानी तो निश्चित रूप से द्विवेदी युग की देन है। निबन्ध-क्षेत्र मे बालमुकुन्द गुप्त, यशोदानन्दन अखौरी, चतुर्भुज औदीच्य रामचन्द्र शुक्ल आदि अनेक यशस्वी कलाकार हुए।

अस्तु, हिन्दी गद्य की जो परम्परा रामप्रसाद 'निरंजनी', लल्लूलाल, श्रीलाल, जवाहरलाल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगियों ने

स्थापित की थी, वह द्विवेदी-युग में आकर पुष्ट हुई। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध की नीव पर भारतेन्दु-युग में जो प्रासाद निर्मित किया गया था वह द्विवेदी-युग में विशेष-प्रकार के वेल-बूटों से सुसज्जित किया गया। इस समय हिन्दी गद्य में अँगरेज़ी की स्पष्ट-भाव-व्यञ्जना, बँगला की सरसता और मुग्धता, मराठी की गम्भीरता और उर्दू के प्रवाह का सुन्दर समन्वय हुआ।

द्विवेदी-युग के परिमार्जन एवं प्रौढ़ता के साथ-साथ प्रथम महायुद्ध (सन् १९१८) के बाद छायावादी कवियों के हाथ में पड़ कर हिन्दी गद्य में हृदय की निगूढ़ सूक्ष्म वृत्तियों को व्यक्त करने की क्षमता आई और भाषा ने लाक्षणिक, अलंकृत, प्रतीकात्मक, वक्रतापूर्ण और कोमलतापूर्ण रूप ग्रहण किया। छायावादी-रहस्यवादी कवियों ने अद्भुत् कलापूर्ण शब्द-विज्ञान की योजना की। सुमित्रानन्दन पन्त, जयशंकर 'प्रसाद', 'निराला', महादेवी वर्मा आदि ने अपने-अपने काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाओं तथा स्वतंत्र रचनाओं के रूप में स्वच्छंद रोमानी एवं भावुकता-पूर्ण प्रवृत्ति-द्वारा गद्य को कविता के निकट ला दिया। वियोगी हरि, चतुर-सेन शास्त्री, रायकृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने अपनी अत्यधिक भावुकता, कलात्मक शब्द-चयन, अनुभूति, तन्मयता के माध्यम द्वारा सुन्दर गद्य-काव्यों एवं गद्य-गीतों की रचना कर गद्य की कवित्वपूर्ण शैली को जन्म दिया। काव्यात्मकता के साथ-साथ चिन्तन-प्रधान तत्समता इस गद्य की अपनी विशेपता है।

छायावादी-रहस्यवादी लेखकों के अलंकृत और सूक्ष्म भावों के पोपक गद्य की प्रतिक्रिया के रूप मे प्रगतिशील लेखकों ने सरल, व्यावहारिक और अनलंकृत गद्य का पोषण किया। अँगरेज़ी और उर्दू शब्दों तक का उन्होंने निस्संकोच प्रयोग किया। किन्तु हिन्दी गद्य का झुकाव अब भी संस्कृत की ओर अधिक है। विश्वविद्यालयों से प्रकाशित खोज-ग्रन्थों की भापा का दृष्टिकोण अधिक व्यापक एवं गम्भीर है और उसमें अलंकरण तथा काव्यात्मकता का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

इधर प्रयोगवादी कवियों ने अपनी गद्य-रचनाओं में बौद्धिक सूक्ष्मता और प्रयोग-धर्मिता ला कर अनेक मानसिक ग्रन्थियों की उलझनों की मूल रेखाओं को मुखरित कर देने वाली पद-योजना की सृष्टि की है। उनका गद्य विचारों की सूक्ष्म गहराई में उतरने की क्षमता प्राप्त करता जा रहा है। इन तथा अनेक व्यक्तिगत शैलियों से सुसज्जित निबन्ध, नाटक, उपन्यास, लघु उपन्यास, कहानी रिपोर्ताज, एकांकी, फैंटेसी, रेडियो-रूपक, उपयोगी तथा वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित लेख आदि परम्परागत और नवीन साहित्यिक रूपों के सर्जन द्वारा आज हिन्दी का गद्य-साहित्य समृद्ध हो रहा है। वास्तव में इधर पिछले तीस वर्षों का गद्य-साहित्य विविध राजनीतिक संघर्षात्मक परिस्थितियों से गुजरता हुआ उन्ही के अनुरूप अपने को ढालता चला आ रहा है। एकरूपता, व्याकरण आदि से सम्बन्धित उसमें अनेक दोष है, यह ठीक है। तो भी हिन्दी गद्य की शक्ति अत्यन्त तीव्र गति से वृद्धि पा रही है। राजकीय, अन्तर्प्रान्तीय और धीरे-धीरे, अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क स्थापित होने से शब्द-भण्डार नित्यप्रति बढ़ता जा रहा है। आशा है वह शीघ्र ही आधुनिक युग की जटिलताओ का भार-वहन करने में समर्थ हो सकेगा। पिछले लगभग डेढ़ सौ वर्षों के उसके इतिहास को देखते हुए निश्चय ही उसका भविष्य उज्ज्वल है।

निबन्ध

मनुष्य के अन्तःकरण मे जितनी वृत्तियाँ है उन सबका प्रधान उद्देश्य मनुष्य मात्र के साथ रागात्मक तादात्म्य स्थापित करना है। इसी रागात्मक तादात्म्य द्वारा हम जीवन के सत्य का प्रतिपादन करते है। यदि यह तादात्म्य न हो तो हमारे जीवन का व्यक्तित्व बहुत-कुछ निरर्थक प्रतीत होने लगे। जीवन मे आनन्द की प्राप्ति उसी समय होती है जबकि मनुष्य की चेतना मन की नाना तहों मे ही केन्द्रीभूत न रहकर नाना रूपों मे प्रसारित होती है। मनुष्य की चेतना का जितना अधिक प्रसार एवं विकास होता है उतने ही बडे रूप मे वह सत्य का अनुभव करता है। दूसरों में

अपने को अधिक-से-अधिक मिला देने से ही मनुष्य महान् या महात्मा कहलाए जाने का श्रेय प्राप्त करने का अधिकारी होता है। मानवात्मा का धर्म ही सबके बीच में अपने को देखना है। दूसरे शब्दों में हम कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि मनुष्य दूसरों के माध्यम द्वारा ही अपने को प्रकाशित करता है। मनुष्य का यह आत्म-प्रकाशन कर्म-जगत् और भाव-जगत् इन दोनों के बीच में रहकर होता है। कर्म-जगत् से प्रेरणा ग्रहण कर वह घर, समाज, राज्य, धर्म-सम्प्रदाय आदि की रचना करता है। इनके माध्यम द्वारा वह अपना ही स्वरूप दिखाता है। किन्तु इसमें अपना स्वरूप प्रकट करना उसका वास्तविक उद्देश्य नहीं होता; वह तो उसका गौण फल है। इनके द्वारा अपने अनेक प्रयोजन सिद्ध करते हुए भी मनुष्य मुख्यतः अपने ही को प्रकट करना चाहता है। अपने ही को वह इसलिए प्रकट करना चाहता है क्योंकि वह स्वतः पूर्ण नहीं है। वह आन्तरिक सत्य को वाह्य सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करके ही जीवित रहता है। वास्तव में संसार को अपना और अपने को संसार का बना डालने के लिए मनुष्य-हृदय सदा व्याकुल रहता है। हृदय यदि अपने को प्रकाशित न करता रहता तो संसार के अन्दर इतना रूप, रंग, रस आदि कुछ भी न होता और मनुष्य इतना महान् न होकर एक क्षुद्र प्राणी होता। अस्तु, मनुष्य के जीवन में कर्म-जगत् के साथ-साथ हृदय-जगत् या भाव-जगत् का भी अत्यधिक महत्त्व है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यही स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाह्य जगत् एक प्रकार से हमारे अन्तर्तम में ही अवगाहन कर वाहर की ओर प्रवाहित होता है। मन का यह प्रवाह चिर-नवीन और चिर-पुरातन है। इस प्रवाह को काल की संहारक शक्ति से बचाए रखने के लिए मनुष्य के अन्दर साहित्य का आवेग है। मनुष्य में जो कुछ महान् है, वह साहित्य में बद्ध होकर हमारे सामने आता है। साहित्य की अभिव्यक्ति द्वारा ही मनुष्य खण्ड से अखण्ड की ओर, क्षुद्र से महान् की ओर बढ़ता है।

अतः साहित्य के माध्यम द्वारा अपने आपको प्रकट करना मनुष्य की

स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह कार्य वह भाषा द्वारा करता है। मानव इतिहास के आदि काल में भाषा का अस्तित्व न था। किन्तु तब भी साहित्य का अस्तित्व तो अवश्य ही था। भाषा के विकास द्वारा वह अपने भाव-जगत् को सुरक्षित बनाए रखने में समर्थ हो सका है। भाषा की कौतुकमय सृष्टि द्वारा मनुष्य अनेक विभिन्न चित्र उपस्थित करता है जिनमें एक विशेष समग्रता होती है। भाषा के माध्यम के द्वारा उपस्थित चित्र की समग्रता से उत्पन्न आनन्द-सृष्टि की सार्थकता इसी में है कि वह केवल लेखक के निकट ही नहीं, वरन् दूसरों के निकट भी सत्य प्रमाणित हो। इस प्रकार साहित्य लेखक का ही नहीं, किन्तु उनका भी है जिनके लिए वह लिखा गया है। कालिदास द्वारा चित्रित अनेक चित्र आज न केवल कालिदास के ही है, वरन् सबके है। अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य के सौन्दर्यबोध मे भाषा-सौन्दर्य का किसी प्रकार भी कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

जो साहित्य भाषा के माध्यम द्वारा प्रकट होता है उसके अन्तर्गत इतिहास, भूगोल, दर्शन, काव्य अनेक विषयों की गणना की जाती है। किन्तु यह साहित्य का अत्यन्त व्यापक अर्थ है। सामान्यतः साहित्य का संकुचित अर्थ में प्रयोग प्रचलित है। संकुचित अर्थ के अनुसार साहित्य रमणीय और लोकोत्तर आनन्द का प्रदान करने वाला है, जिसमें मनुष्य की भावनाओं और कल्पना का विशेष योग होता है। लोकोत्तर आनन्द से तात्पर्य उस आनन्द से है जो हमें दैनिक व्यावहारिक जीवन में प्राप्त नही होता। इसी संकुचित अर्थवाले साहित्य के विविध रूपों में से एक रूप निबन्ध है और वह आधुनिक गद्य-साहित्य का एक अंग है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवी शताब्दी का विशेष महत्त्व है क्योकि इसी शताब्दी में हमें हिन्दी खडीबोली गद्य का सर्वप्रथम क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। निबन्ध-रचना खडीबोली गद्य की ही विशेषता है। और क्योकि किसी साहित्य के इतिहास मे निबन्ध-रचना उसी समय होती है जबकि गद्य कुछ पुष्टता प्राप्त कर लेता है, इसलिए उन्नीसवी

शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अँगरेज़ी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप हिंदी के साहित्यकारों का ध्यान साहित्य के केवल काव्य-भेद के अतिरिक्त गद्य के विविध रूपों की ओर भी गया। नवीन शिक्षा के प्रचलित हो जाने से पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण और प्रेस जैसे वैज्ञानिक आविष्कार के माध्यम द्वारा समाचार-पत्रों के प्रकाशन आदि की सहायता से गद्य को अधिकाधिक बल प्राप्त हुआ। हिंदी गद्य के इस विकास-काल में ही निबन्ध-रचना का जन्म हुआ। 'निबन्ध' शब्द अवश्य प्राचीन है, किन्तु जिस रचना को आज 'निबन्ध' नाम से पुकारते हैं वह सर्वथा नवीन और पाश्चात्य साहित्य की देन है। वर्तमान शताब्दी में भी अनेक उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक हुए हैं। किन्तु इतना सब-कुछ होते हुए भी निबन्ध-रचना आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य की प्रमुख विशेषता नहीं बन पाई। आजकल तो निबन्ध-रचना की ओर बहुत कम लेखकों का ध्यान जाता है।

अब प्रश्न यह है कि 'निबन्ध' कहते किसे हैं ? जिस प्रकार साहित्य के अन्य रूपों की परिभाषाएँ देना कठिन है, उसी प्रकार निबन्ध की भी एक निश्चित परिभाषा देना सम्भव नहीं है। उसके हम केवल कुछ प्रधान लक्षण ही जान सकते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि निबंध इतिहास, भूगोल आदि ज्ञानवर्द्धक साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। उसे हम उस साहित्य के अन्तर्गत रखते हैं, जिसमें मानसिक उल्लास और उत्तेजना उत्पन्न करने की शक्ति हो, जिस साहित्य के अन्तर्गत काव्य, नाटक आदि रखे जाते हैं। निबन्ध-रचना में हम लेखक के मनोनीत विषय की ओर उतना ध्यान नहीं देते जितना स्वयं लेखक और उसके व्यक्तित्व की ओर। निबन्ध-रचना छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े किसी भी विषय पर हो सकती है। उसमें प्रतिपादित विषय का सांगोपांग निरूपण नहीं होता; वह केवल प्रयास मात्र है। निबन्ध-रचना का प्रधान उद्देश्य लेखक के व्यक्तित्व को प्रकट करना है। साथ ही वह एक साफ़-सुथरे ढंग की बातचीत के रूप में होती है और उसकी शैली और ध्वनि में सरलता रहती है। निबन्ध-रचना के इस विकास में समाचार-पत्रों

का विशेष योग रहा है। पाश्चात्य देशों में विभिन्न विद्वानों ने निबन्ध की विभिन्न परिभाषाएँ देने का प्रयत्न किया है। किन्तु सभी परिभाषाएँ अपूर्ण हैं। इतने पर भी जिस बात पर वे जोर देना चाहते हैं वह यह है कि निबन्ध मे 'One should not let oneself go,' अथवा निबन्ध-रचना का अंतिम ध्येय होना चाहिए—'To bring out the natural man, the real personaliy of the writer, on which the essay, if it is to be worth anything, must feed,' अथवा the natural man must speak. अथवा 'The 'I' must be expressed.' यूरोप में निबन्ध-रचना के जन्मदाता प्रसिद्ध फ़ासीसी लेखक मौतेन (Montaigne) का कहना है....'It is myself I portray'। इस प्रकार की निबन्ध-रचना के लिए जीवन का अनुभव भी एक आवश्यक तत्त्व माना गया है। इसीलिए किसी लेखक की युवावस्था मे उच्चकोटि की निबन्ध-रचना प्रायः नही हुआ करती।

निबन्ध-रचना के प्रधान लक्षणों पर विचार करते समय 'निबन्ध' और 'लेख' का भेद जान लेना भी आवश्यक है, क्योंकि सम्प्रति इन दो शब्दों का समानार्थवाची प्रयोग चल पड़ा है। 'निबन्ध' संस्कृत शब्द है और सम्बद्ध पद्यो मे पूरी होने वाली रचना को 'निबन्ध' कहते थे। 'लेख' भी संस्कृत शब्द है। 'लेख' के शब्दार्थ—लिखा हुआ—के अनुसार तो निबन्ध भी लेख है, किंतु उसके वास्तविक स्वरूप और विषय-प्रतिपादन-शैली में अन्तर है। विचार प्रकट करने की अपनी मनोवृत्ति के अनुसार जब कोई व्यक्ति अपनी रुचि तथा आदर्श के अनुसार किसी विषय पर सांगोपांग दृष्टि से या विस्तार के साथ अथवा संक्षेप मे अपने विचार प्रकट करता है तो उसे 'लेख' कहते है। 'निबन्ध' में विषय नही, लेखक का व्यक्तित्व प्रधान वस्तु है। 'लेख' में व्यक्तित्व नही, विषय और अध्ययन प्रधान वस्तु है। उदाहरणार्थ, प० रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'काव्य मे प्रकृति' अथवा 'प्रसाद' कृत 'रस' तथा 'नाटक' आदि शीर्षक रचनाएँ निबन्ध नही, लेख हैं। उनकी लम्बाई और प्रतिपादन-शैली की कोई सीमा

नही। उनमें लेखक अपना मत प्रतिष्ठापित करते हुए दूसरे के मतों की भी सहायता लेना चाहता है। 'निवन्ध' में मत-प्रतिपादन का कोई प्रश्न ही नही उठता। 'निवन्ध' को अँगरेजी में 'Essay' कहते हैं और 'लेख' को अँगरेजी में 'Article' कहते है। वास्तव में निवन्ध उस प्रकार की गद्य-रचना है जिसकी शैली और जिसके विपय-प्रतिपादन में अपनापन रहता है।

'निवन्ध' और 'लेख' का यह वैज्ञानिक भेद है। किन्तु सामान्यतः व्यवहार में दोनों का एक ही अर्थ मे प्रयोग चल पड़ा है। वालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और वालमुकुन्द गुप्त ने 'निवन्ध' लिखे, व स्कूल-कॉलेज के विद्यार्थी भी कक्षाओं में 'निवन्ध' लिखते हैं, किसी मासिक पत्र में भी 'निवन्ध' प्रकाशित होते हैं और प्रेमचन्द के 'कुछ विचार' शीर्षक 'निवन्ध' संग्रह में प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में दिया गया उनका भापण भी सम्मिलित है। अस्तु 'निवन्ध' और 'लेख' का वैज्ञानिक और प्रचलित या व्यावहारिक अर्थभेद जान लेना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान भी अव 'Essay' को अत्यधिक व्यापक रूप देने लगे हैं, अर्थात् अव वे 'Essay' तथा लेख जैसी गद्य-रचनाओं में शास्त्रीय-भेद उपस्थित करने की चेष्टा नही करते। एक विद्वान् का सन् १९४४ ई० में कथन है—I ought perhaps to say that once again the term essay has been allowed interpretion to include many pieces of writings which would not strictly be accepted by the purists as in the traditional form." हिंदी के किसी लेखक ने ऐसा कहा तो नहीं है, किन्तु 'निवन्ध' और 'लेख' इन दोनों शब्दों का प्रचलित या व्यावहारिक प्रयोग पाश्चात्य विद्वान् के इस कथन का पूर्ण समर्थन करता है।

उपर्युक्त लक्षण के अनुसार निवन्ध का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं विशाल है। विभिन्न विपयों से सम्वन्ध रखनेवाले निवन्ध विभिन्न भेदों में विभाजित किए जा सकते हैं। अथवा, लेखक के दृष्टिकोण के अनुसार भी निबन्ध के अनेक भेद किए जा सकते हैं। लेखक एक ही वस्तु पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार कर सकता है।

इसलिए निबन्धों के प्रकार और शैली में अनेकरूपता आना स्वाभाविक है। साथ ही ऐसी दशा में निबन्ध के प्रकारों और शैलियों की संख्या निश्चित रूप से नियत नहीं की जा सकती। संसार में अनेक प्रकार के निबन्ध और अनेक प्रकार की शैलियाँ हो सकती हैं, और होती हैं। किंतु स्थूल रूप से निबन्ध तीन प्रकार के माने जाते हैं :—

(१) वर्णनात्मक (Descriptive)

(२) कथात्मक (Narrative) या विवरणात्मक या आख्यात्मक

(३) व्याख्यानात्मक (Expository) या विचारात्मक (Reflective)

वर्णनात्मक निबन्ध मे लेखक अपनी ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त भावो अथवा विचारो का प्रकाशन अपनी भाषा शैली में करते हैं। इसमे प्राकृतिक अथवा मनुष्यकृत अप्राकृतिक वस्तुओं और दृश्यों, जड और चेतन सभी पदार्थों, यात्रा, दिनचर्या, मेला, त्योहार आदि का यथातथ्य वर्णन रहता है। वर्णन में स्थूलत्व रहता है और भाषा सरल होती है। कथात्मक निवन्ध वर्णनात्मक निबन्ध के समीप होते हुए भी उससे कुछ भिन्न है। कथात्मक निवन्ध की वर्णन-शैली मे वर्णनात्मक निवन्ध की अपेक्षा अधिक स्थूलता रहती है। कथात्मक निवन्ध या तो काल्पनिक होते हैं, अथवा लेखक उनमें अपनी भावनाओ का मानवीकरण कर देता है जैसे, 'इत्यादि की आत्म कहानी' शीर्षक प्रसिद्ध निवन्ध में, अथवा उनमें लेखक किसी रूपक का आश्रय ग्रहण कर कहानी की तरह रचना करता है। अन्तिम प्रकार के निबन्धों की भाषा और शैली कवित्व पूर्ण भी हो सकती है। सूरज को 'सूरजसिंह' और बादल को 'बादलसिंह' मानकर दोनो की लुकाछिपी का युद्ध के रूप में वर्णन किया जाय तो वह कथात्मक निबन्ध के अन्तिम भेद के अन्तर्गत रखा जाएगा। विचारात्मक निवन्ध मे सूक्ष्म भावों और विचारो का प्रकटीकरण होता है। रामचन्द्र शुक्ल कृत 'दया', 'घृणा' आदि पर लिखे गए निवन्ध इसी कोटि मे आते है। इस प्रकार के निबन्धो को विवेचनात्मक, चिन्तनात्मक और विश्लेषणात्मक भी कहते है। साहित्य तथा कला सम्बन्धी आलोचनाएँ

भी प्रायः इसी प्रकार के अन्तर्गत आती है। भाव और विचार की दृष्टि से विचारात्मक निबन्ध में (१) भावों की प्रधानता हो सकती है—उस समय वह भावात्मक निबन्ध कहा जायगा—और उसमें रस की प्रधानता होती है। लेखक के हृदय का प्रवाह और भावावेश इस प्रकार के विचारात्मक निबन्ध की विशेषताएँ हैं। कुछ लोग इसे निबंध की 'प्रलाप शैली' भी कहते है। (२) हृदय के स्थान पर विचारात्मक निबन्ध में बुद्धि की प्रधानता भी हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में उसे विचारात्मक निबंध ही कहते हैं। (३) इसके अतिरिक्त विचारात्मक निबन्ध में भाव और विचारों—अर्थात् हृदय और बुद्धि—दोनों का सुन्दर सामंजस्य भी हो सकता है। सामंजस्य उपस्थित करनेवाले विचारात्मक निबन्ध को उभयात्मक कहते हैं। हिन्दी में विचारात्मक निबंध बहुत लिखे जाते हैं; वर्णनात्मक और कथात्मक निबन्धों की रचना ज़रा कम हुई है। विचारात्मक निबन्धों के सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के बहुत-से निबन्ध प्रस्तुत संग्रह में ग्रहण किए गए अर्थ के अनुसार सच्चे निबन्धों की कोटि में न आकर लेखों या प्रबन्धों की कोटि में आते हैं। किन्तु यह बात हम तभी कह सकते हैं जब हम निबन्ध का शास्त्रीय और प्रचलित या व्यावहारिक अंतर अपनी दृष्टि में रखें। वास्तव में अधिकतर विचारात्मक निबन्ध में वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा मूल तत्त्वों की खोज रहती है और विषय का विवेचन अधिक होता है।

निबन्धों के इन प्रधान प्रकारों के अतिरिक्त निबन्ध तार्किक, व्यंग्य-प्रधान, हास्य-प्रधान आदि अन्य अनेक प्रकार के हो सकते है। संसार में जितनी रुचियाँ है, उतने ही विषय और विषयों के अनुसार निबन्धों के प्रकार भी अनन्त हो सकते हैं। किन्तु प्रमुखतः प्रधान प्रकार वे ही है जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

विभिन्न रुचियों के अनुसार जिस प्रकार निबन्धों के विभिन्न प्रकारों का जन्म होता है उसी प्रकार प्रत्येक लेखक के अपने-अपने व्यक्तित्व के

अनुसार विभिन्न शैलियों का जन्म होता है। शैली के द्वारा ही लेखक अपने आपको प्रकट करता है। लेखक का जैसा व्यक्तित्व होगा वैसी ही उसकी शैली होगी। लेखक यदि पुष्प है तो शैली उसकी सुगन्ध। यदि हम कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि लेखक का अपने को प्रकट करने का प्रभावपूर्ण एवं कलात्मक प्रयास ही शैली है। लेखक के ज्ञान, भाव, कल्पना, कला आदि तत्त्वों के सम्मिश्रण से ही साहित्य-निर्माण मे शैली का महत्त्व है। यह महत्त्व तभी स्पष्ट हो सकता है जबकि लेखक अपने भावों को प्रकट करने के साधन—भापा—को न केवल अपनी सौन्दर्य-प्रियता की परितुष्टि के लिए, वरन् दूसरो को प्रभावित करने के लिए भी सजावे। भापा को सुन्दर और सजीव बनाने के लिए लेखक को अलकारो, कहावतो, मुहावरो, विराम-चिह्नो, शब्दो, वाक्यो, अनुच्छेदो, प्रकरणो, गुणो, सरलता, स्पष्टता, प्रभावोत्पादकता, लय आदि बातो पर ध्यान रखना पडता है। विषय और अवसर के अनुसार इन सब तत्त्वो के औचित्य या अनौचित्य से शैली सुन्दर या दोपपूर्ण हो सकती है। सुन्दर शैली के लिए केवल भावो की विशदता ही नही, भापा की विशदता भी अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु किसी एक ही रचना मे भाव और भापा दोनो की विशदता प्रायः नही मिला करती। किसी मे भापा-सौन्दर्य रहता है, तो किसी मे भाव-सौन्दर्य। इस आधार पर शैलियां भी तरह-तरह की हो जाती है। व्यापक दृष्टि से शैली या तो भापा-प्रधान होगी या भाव-प्रधान। किन्तु भापा का निर्माण तथा शृंगार जिन विविध तत्त्वो से होता है उनके आधार पर भापा-प्रधान शैली भी कई प्रकार की होती है, जैसे अलकारों, शब्दों, वाक्यो, कहावतो, मुहावरों आदि मे से किसी एक की प्रधानता के आधार पर। इसी प्रकार भावो के प्रकट करने मे लेखक का व्यक्तित्व और विषय इन दोनो में से किसी एक की प्रधानता हो सकती है। प्रधान तत्त्व के आधार पर भाव-प्रधान शैली का वर्गीकरण किया जाता है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से विषय-प्रधान शैली के आलोचनात्मक, तर्क-प्रधान, व्याख्या-प्रधान, वैज्ञानिक,

भावात्मक आदि स्थूल भेद हैं। इन नामों से ही उसके स्वरूप स्पष्ट हो जाते हैं। प्रतिभाशाली लेखक अपनी एक ही रचना में एक से अधिक शैलियों का दिग्दर्शन करा सकता है। साथ ही यह स्मरण रखना चाहिए कि लेखक के लिए यह आवश्यक नहीं कि लिखते समय वह शैली और उसके भेदों का ज्ञान प्राप्त करे। शैली का कोई एक भेद स्वतः उसके व्यक्तित्व से प्रस्फुटित हो साहित्य में अवतरित हो जाता है। इस क्रिया का स्वयं उसे कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। प्रत्येक लेखक अपनी एक निजी शैली को जन्म देता है।

निबन्ध-रचना का अभ्यास करने के सम्बन्ध में यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि जिस प्रकार काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर कोई व्यक्ति कवि नहीं हो सकता उसी प्रकार निबन्ध-रचना के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से कोई व्यक्ति निबन्धकार नहीं बन सकता। काव्य रचना या लेखन-शक्ति तो नैसर्गिक होती है। नियम तो केवल सहायता के लिए होते हैं। प्रतिभाशाली लेखक तो नियमों का पालन करते हुए भी बन्धनों से मुक्त रहते हैं।

निबन्ध-कला के पूर्वोल्लिखित तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत संग्रह में निबन्ध के क्षेत्र में प्रमुख लेखकों और उनकी शैलियों को स्थान दिया गया है। साथ ही उसमें विषयों की अनेकरूपता की ओर भी ध्यान रखा गया है।

भारतेन्दु-युग में हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का जन्म हुआ, तो द्विवेदी युग में विषय, रूप और शैली सभी दृष्टियों से उसका विस्तार हुआ। निबन्ध-लेखकों की दृष्टि व्यापक हुई और उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों पर दृष्टिपात किया। उन्होंने वर्णनात्मक, विचारात्मक, कवित्वपूर्ण शैली से समन्वित, साहित्यिक, काल्पनिक आदि अनेक प्रकार के निबन्धों की रचना की। वास्तव में छोटे-से-छोटे विषय से लेकर गम्भीर-से-गम्भीर विषय तक को उन्होंने अपनी प्रतिभा की खराद पर चढ़ाकर चमका दिया।

दृष्टि से उनकी वाक्य-रचना सीधी, सरल और प्रवाहपूर्ण है। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ, किन्तु सरल है। उसमें तद्भव, देशज और सरल विदेशी (अरबी, फारसी और अंग्रेजी) शब्दों का प्रयोग हुआ है। द्विवेदी जी की रुचि मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग की ओर जरा कम पाई जाती है। संक्षेप में उनकी भाषा सुसंगठित, परिष्कृत और विषयानुकूल है।

'अशोक के फूल' में द्विवेदी जी के वास्तविक साहित्यिक निबन्धों के कई उदाहरण मिलते हैं, जबकि सिद्धान्त-प्रतिपादन के मोह के कारण वास्तविक साहित्यिक निबन्ध का अभाव हो चला है। निबन्ध मे व्यक्तित्व को पूर्ण प्रकाश मिलना चाहिए। 'अशोक के फूल' के अतिरिक्त 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', 'विचार-प्रवाह', 'कुटज' आदि निबन्ध-संग्रह द्विवेदी जी के हैं। उनके निबन्धों का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। अपने निबन्धो मे उन्होंने भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति एवं परम्परागत ज्ञान-विज्ञान के साथ आधुनिक युग की विभिन्न परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एव समस्याओं का भी सुन्दर समन्वय किया है। उनके निबन्धों में अध्ययन-क्षेत्र की व्यापकता, चिन्तन की गम्भीरता, व्यक्तित्व की सरलता एवं सरसता की सहज समाविष्टि हुई है।

डा० नगेन्द्र

साहित्यिक आलोचनात्मक निबन्धों की अभिवृद्धि में डा० नगेन्द्र का योग रहा है। उनके निबन्ध-संग्रहो में—'विचार और विवेचना', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विश्लेषण', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' आदि उल्लेखनीय है। इनके निबन्धों का मूल स्वर विषय-प्रधान होने पर भी अनेक निबन्धों मे व्यक्तित्व के दर्शन हो जाते है। किन्तु अपने निबन्धों में डा० नगेन्द्र का प्रधान प्रयास पाठक का ध्यान अपनी अपेक्षा आलोच्य विषय अथवा मूल समस्या की ओर आकर्षित करने की ओर अधिक रहता है। उनके निबन्ध-लेखन की यह विशेषता है कि

वे गूढ़ से गूढ़ विषय को भी, पाठक के लिए सहज ग्राह्य बना देते हैं। उनका 'साधारणीकरण' सम्बन्धी निबन्ध इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। कुछ निबन्धों में डा० नगेन्द्र ने व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली के स्थान पर रूपकात्मक या अप्रस्तुतात्मक शैली के भी प्रयोग किए हैं। इनके निबन्धों में विचारों की गम्भीरता, चिन्तन की मौलिकता एवं शैली की रोचकता का सहज समन्वय दृष्टिगत होता है। डा० नगेन्द्र ने साहित्य एवं कला सम्बन्धी विषयों पर उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किए हैं जो 'कला, कल्पना और साहित्य', 'साहित्य की झांकी', आदि में संग्रहीत हैं। डा० नगेन्द्र के निबन्धों में अध्ययन की गंभीरता, ज्ञान-क्षेत्र की व्यापकता एवं चिन्तन की स्पष्टता परिलक्षित होती है। अपने तथ्य को ये तर्क एवं प्रमाण से भलीभांति पुष्ट करके प्रस्तुत करते हैं जिससे प्रतिपादित विषय पाठक की बुद्धि को सहज ही ग्राह्य हो जाता है। इनकी शैली में भी स्पष्टता एवं रोचकता के दर्शन होते हैं।

कुबेरनाथ राय

कुबेरनाथ राय नयी पीढ़ी के प्रतिष्ठित हिन्दी निबन्धकार हैं। इनके अब तक चार निबन्ध संग्रह (१. प्रिया नीलकण्ठी, २. रस आखेटक, ३. गन्धमादन तथा विषाद योग) प्रकाशित हो चुके हैं। आरम्भ में लेखक की प्रवृत्ति पुरानी पीढ़ी तथा नयी पीढ़ी को एक मध्य मार्ग की ओर, ले जाने की रही है। यह बात उनके 'रस-आखेटक' में संग्रहीत निबन्धों द्वारा प्रकट हो जाती है। 'रस आखेटक' के निबन्धकार ने रस की परिभाषा को नये आयाम में व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। वह पाता है पुरानी पीढ़ी में सुन्दर के प्रति रोमांटिक मोह है, तो नयी पीढ़ी में कदर्य और क्रुद्ध के प्रति रोमांटिक प्रतिबद्धता। इसलिए दोनों कूलों को अस्वीकार कर, इन निबन्धों में रस को मध्य धार के बहते पानी का स्वास्थ्य और प्रसन्न-गम्भीर—परिष्कार देने की चेष्टा की है। अन्तिम निबन्ध-संग्रह—'विषाद योग' की दिशा पूर्व निबन्ध-संग्रह से कुछ भिन्न है। और उन्हीं के शब्दों

भाव या मनोविकार

अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे-से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति भरने के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरम्भ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते है पर ये अनुभूतियाँ बिलकुल सामान्य रूप में रहती है, विशेष-विशेष विषयों की ओर विशेप-विशेप रूपों में ज्ञानपूर्वक उन्मुख नहीं होती।

नाना विपयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्वन्ध रखने-वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के भिन्न-भिन्न योग संघटित होते है जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अतः हम कह सकते है कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकार का जटिल रूप धारण करती हैं। जैसे यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीड़ा हो तो केवल सामान्य दुःख होगा; पर यदि साथ ही यह ज्ञात हो जाय कि सुई चुभानेवाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिप्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे क्रोध कहते है। जिस वच्चे को पहले अपने ही दुःख का ज्ञान होता था, वढ़ने पर असंलक्ष्यक्रम अनुमान-द्वारा उसे और वालकों का कष्ट या रोना देखकर भी एक विशेप प्रकार का दुःख होने लगता है जिसे दया या करुणा कहते हैं। इसी प्रकार जिस पर अपना वश न हो ऐसे कारण से कष्ट पहुँचाने वाले भावी अनिष्ट के निश्चय से जो दुःख होता है वह भय कहलाता है। वहुत छोटे वच्चे को, जिसे यह निश्चयात्मिका वुद्धि नहीं होती, भय कुछ भी नहीं होता। यहाँ तक कि उसे मारने के लिए हाथ उठाएँ तो भी वह विचलित न होगा, क्योंकि वह निश्चय नही कर

सकता कि इस ज्ञान उत्कर्ष का परिणाम बुरा होगा।

मनोविकारों या भावों की अनुभूतियां परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती है जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं। विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारो की अनेकरूपता का विकास होता है। हानि या दुःख के कारण मे हानि या दुःख पहुंचाने की चेतन वृत्ति का पता पाने पर हमारा काम उस मूल अनुभूति से नही चल सकता जिसे दुःख कहते है, बल्कि उसके योग से संघटित क्रोध नामक जटिल भाव की आवश्यकता होती है। जब हमारी इन्द्रियां दूर से आती हुई क्लेशकारिणी बातो का पता देने लगती है, हमारा अन्तःकरण हमे भावी आपदा का निश्चय कराने लगता है; तब हमारा काम दुःख मात्र से नही चल सकता बल्कि भागने या बचने की प्रेरणा करने वाले भय से चल सकता है। इसी प्रकार अच्छी लगनेवाली वस्तु या व्यक्ति के प्रति जो सुखानुभूति होती है उसी तक प्रयत्नवान प्राणी नही रह सकता, बल्कि उसकी प्राप्ति, रक्षा या सयोग की प्रेरणा करनेवाले लोभ या प्रेम के वशीभूत होता है।

अपने मूल रूपो मे सुख और दुःख दोनों की अनुभूतियाँ कुछ बँधी हुई शारीरिक क्रियाओ की ही प्रेरणा प्रवृत्ति के रूप मे करती है। उनकी भावना इच्छा और प्रयत्न अनेकरूपता का स्फुरण नही होता। विशुद्ध सुख की अनुभूति होने पर हम बहुत करेंगे—दाँत निकालकर हँसेंगे, कूदेंगे या सुख पहुँचानेवाली वस्तु से लगे रहेंगे, इसी प्रकार शुद्ध दुःख मे हम बहुत करेंगे हाथ-पैर पटकेंगे, रोयेंगे या दुःख पहुँचाने वाली वस्तु से हटेंगे —पर हम चाहे कितना ही उछल-कूदकर हँसे, कितना ही हाथ-पैर पटककर रोये, इस हँसने या रोने को प्रयत्न नही कह सकते। ये सुख और दुःख के अनिवार्य लक्षण मात्र है जो किसी प्रकार की इच्छा का पता नही देते। इच्छा के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नही कर सकती।

शरीर-धर्म मात्र के प्रकाश से बहुत थोडे भावों की निर्दिष्ट और पूर्ण व्यजना हो सकती है। उदाहरण के लिए कम्प लीजिए। कम्प शीत की संवेदना से भी हो सकता है, भय से भी, क्रोध से भी और प्रेम के वेग से

भी। अतः जब तक भागना, छिपना या मारना, झपटना इत्यादि प्रयत्नों के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न लगेगा तब तक भय या क्रोध की सत्ता पूर्णतया व्यक्त न होगी। सभ्य जातियों के बीच इन प्रयत्नों का स्थान बहुत कुछ शब्दों ने ले लिया है। मुँह से निकले हुए वचन ही अधिकतर भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं का पता देकर भावों की व्यंजना किया करते है। इसी से साहित्य-मीमांसकों ने अनुभव के अन्तर्गत आश्रय की उक्तियों को विशेष स्थान दिया है।

क्रोधी चाहे किसी ओर झपटे या न झपटे, उसका यह कहना ही कि 'मैं उसे पीस डालूँगा' क्रोध की व्यंजना के लिए काफी होता है। इसी प्रकार लोभी चाहे लपके या न लपके, उसका कहना ही कि 'कहीं वह वस्तु हमें मिल जाती' उसके लोभ का पता देने के लिए बहुत है। वीर रस की जैसी अच्छी और परिष्कृत अनुभूति उत्साहपूर्ण उक्तियों द्वारा होती है वैसी तत्परता के साथ हथियार चलाने और रणक्षेत्र में उछलने-कूदने के वर्णन में नही। बात यह है कि भावों द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते हैं। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नही। उक्तियों में जितनी नवीनता और अनेकरूपता आ सकती है या भावों का जितना अधिक वेग व्यंजित हो सकता है उतना अनुभाव कहलानेवाले व्यापारों-द्वारा नहीं। क्रोध के वास्तविक व्यापार तोड़ना-फोड़ना मारना-पीटना इत्यादि ही हुआ करते है, पर क्रोध की उक्ति चाहे जहाँ तक बढ़ सकती है। किसी को धूल में मिला देना, चटनी कर डालना, किसी का घर खोदकर तालाव बना डालना तो मामूली बात है। यही बात सब भावों के सम्बन्ध में समझिए।

समस्त मानव-जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाये जाते है। शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेप प्रकार के संगठन मे ही समझना चाहिए। लोक-रक्षा और लोक-रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्ही पर ठहराया गया है। धर्म-शासन, राज-शासन, मत-शासन—सबमें इनसे पूरा काम लिया गया है। इनका सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी। जिस प्रकार लोक-कल्याण के व्यापक उद्देश्य

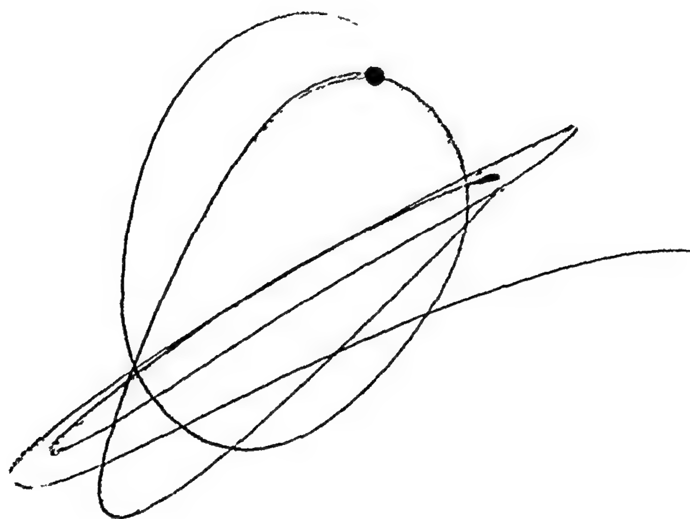
की सिद्धि के लिए मनुष्य के मनोविकार काम में लाये गये हैं उसी प्रकार किसी सम्प्रदाय या संस्था के संकुचित और परिमित विधान की सफलता के लिए भी।

सब प्रकार के शासन में—चाहे धर्म-शासन हो, चाहे राज-शासन, या सम्प्रदाय-शासन—मनुष्य जाति के भय और लोभ से पूरा काम लिया गया है। दण्ड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाते हुए राज-शासन तथा नरक का भय और स्वर्ग का लोभ दिखाते हुए धर्म-शासन और मत शासन चलते आ रहे हैं। इनके द्वारा भय लोभ का प्रवर्तन उचित सीमा के बाहर भी प्रायः हुआ है और होता रहता है। जिस प्रकार शासकवर्ग अपनी रक्षा और स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी इनसे काम लेते आये हैं उसी प्रकार धर्म-प्रवर्त्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी। शासकवर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शान्ति के लिए भी डराते और ललचाते आये है। मत-प्रवर्त्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और लपकाते आये हे। एक जाति को मूर्ति-पूजा करते देख दूसरी जाति के मत-प्रवर्त्तक ने उसे गुनाहों में दाखिल किया है। एक सम्प्रदाय को भस्म और रुद्राक्ष धारण करते देख दूसरे सम्प्रदाय के प्रचारक ने उसके दर्शन तक में पाप लगाया है। भावक्षेत्र अत्यन्त पवित्र क्षेत्र है। उसे इस प्रकार गन्दा करना लोक के प्रति भारी अपराध समझना चाहिए।

शासन की पहुँच प्रवृत्ति और निवृत्ति की बाहरी व्यवस्था तक ही होती है। उनके मूल या मर्म तक उनकी गति नही होती। भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित रखनेवाली शक्ति कविता है जो धर्म-क्षेत्र में शक्ति-भावना को जगाती रहती है। भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। अपने मङ्गल और लोक के मङ्गल का संगम उसी के भीतर दिखाई पड़ता है। इस मङ्गल के लिए प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए। जिस प्रकार ज्ञान नर-सत्ता के प्रसार के लिए है, उसी प्रकार हृदय भी। रागात्मिका वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नही हो

सकता। जब मनुष्य के सुख और आनन्द का मेल शेष प्रकृति के सुख-सौंदर्य के साथ हो जायगा, उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, सब की रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जायगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जायगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जायगा। काव्य योग की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने के लिए हैं। सच्चे कवियों की वाणी बराबर पुकारती आ रही है—

विधि के बनाये जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव।—ठाकुर



श्रद्धा-भक्ति

किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध मे जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय मे स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते है। श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। यदि हमे निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बडा वीर, बडा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बडा विद्वान्, बड़ा परोपकारी व बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवायेगे; किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेगे, उसकी बढती से प्रसन्न होगे और अपनी पोषित आनन्द-पद्धति मे व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निन्दा न सह सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि जन कर्मो के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है। यही विश्वकामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

प्रेम और श्रद्धा मे अन्तर यह है कि प्रेम स्वाधीन कार्यो पर उतना निर्भर नही—कभी-कभी किसी का रूप मात्र, जिसमे उसका कुछ भी हाथ नही, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है पर श्रद्धा ऐसी नही है। किसी की सुन्दर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नही उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमे अच्छा लगे, पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत। प्रेम मे घनत्व अधिक है और श्रद्धा मे विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखनेवाले दो ही एक मिलेगे, पर उस पर श्रद्धा रखने वाले सैकड़ों, हजारों, लाखो क्या करोड़ो मिल सकते है। सच पूछिए तो इसी श्रद्धा के आश्रय से उन कर्मों के महत्त्व का भाव दृढ़ होता रहता है जिन्हें धर्म कहते है और जिनमे मनुष्य-

समाज की स्थिति है। कर्त्ता से वढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए वार-वार कर्त्ता ही की ओर आँख उठती है। कर्मों से कर्त्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उस पर मुग्ध होकर वहुत से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं। कर्त्ता अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्तिकेन्द्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ज्योतिष्मान् शक्ति केन्द्र का उदय होता है उस समाज में भिन्न-भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएँ मेघखण्डों के समान उड़कर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती है कि उनकी घटा-सी उमड़ पड़ती है और मङ्गल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश वह जाते हैं।

हमारे अन्तःकरण मे प्रिय के आदर्श रूप का संगठन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय स हो सकता है पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाये हुए कर्म-तन्तु के उपादान से होता है। प्रिय का चिन्तन हम आँख मूँदे हुए, ससार को भुलाकर, करते हैं, पर श्रद्धेय का चिन्तन हम आँख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेम प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए ससार से अलग करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय के वीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के वीच कोई वस्तु चाहिए। इस वात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जायगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनन्दान्तर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा। यदि किसी कवि का काव्य वहुत अच्छा लगा; किसी चित्रकार या वनाया चित्र वहुत सुन्दर जँचा और हमारे चित्त में उस कवि का चित्रकार के प्रति एक सुहृद्-भाव उत्पन्न हुआ तो वह श्रद्धा है; क्योंकि यह काव्य या चित्ररूप मध्यस्थ-द्वारा प्राप्त हुआ है।

प्रेम का कारण वहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है; पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी-कभी केवल एक साथ रहते-

रहते दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें; उनका साथ कभी न छूटे। प्रेमी प्रिय के सम्पूर्ण जीवन-क्रम के सतत साक्षात्कार का अभिलाषी होता है। वह उसका उठना, बैठना, चलना, फिरना, सोना, खाना, पीना सब कुछ देखना चाहता है। संसार में बहुत से लोग उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं, पर सबका उठना-बैठना, चलना-फिरना उसको वैसा अच्छा नहीं लगता। प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक निराला मिश्रण तैयार करना चाहता है। वह दो से एक करना चाहता है। साराश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है। और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर आ जाती है; एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरी में कर्मों को व्यक्ति-द्वारा। एक मे कर्म प्रधान है, दूसरी मे व्यक्ति।

किसी के रूप को स्वयं देखकर हम तुरन्त मोहित होकर उससे प्रेम कर सकते हैं, पर उसके रूप की प्रशंसा किसी दूसरे से सुनकर चट हमारा प्रेम नहीं उमड़ पड़ेगा। कुछ काल तक हमारा भाव लोभ के रूप में रहेगा, पीछे वह प्रेम में परिणत हो सकता है। बात यह है कि प्रेम एकमात्र अपने ही अनुभव पर निर्भर रहता है; पर श्रद्धा अपनी सामाजिक विशेषता के कारण दूसरों के अनुभव पर भी जगती है। रूप की भावना का बहुत कुछ सम्बन्ध व्यक्तिगत रुचि से होता है। अतः किसी के रूप और हमारे बीच यदि तीसरा व्यक्ति आया तो इस व्यापार मे सामाजिकता आ गई; क्योंकि हमें उस समय यह ध्यान हुआ कि उस रूप से एक तीसरे व्यक्ति को आनन्द या सुख मिला और हमें भी मिल सकता है। जब तक हम किसी के रूप का बखान सुनकर 'वाह वाह' करते जायँगे तब तक हम एक प्रकार के लोभी अथवा रीझनेवाले या कद्रदान ही कहलाएँगे, पर जब हम उसके दर्शन के लिए आकुल होंगे, उसे बराबर अपने सामने ही रखना चाहेंगे; तब प्रेम का सूत्रपात समझा जायगा। श्रद्धा-भाजन पर श्रद्धावान् अपना किसी प्रकार का अधिकार नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रिय के हृदय पर अपना अधिकार चाहता है।

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम

श्रद्धेय से अपने लिए कोई बात नही चाहते । श्रद्धा धारण करते हुए हम अपने को उस समाज में समझते है जिसके किसी अंश पर—चाहे हम व्यष्टि रूप में उसके अन्तर्गत न भी हों—जान-बूझकर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला । श्रद्धा स्वयं ऐसे कामों के प्रतिकार में होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं वल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ सकता है । श्रद्धा एक ऐसी आनन्द-पूर्ण कृतज्ञता है जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधिरूप में प्रकट करते है । सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध या घृणा प्रकट करने के लिए समाज ने प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिनिधित्व प्रदान कर रक्खा है । यह काम उसने इतना भारी समझा है कि उसका भार सारे मनुष्यों को वॉट दिया है, दो-चार माननीय लोगों के ही सिर पर नही छोड़ रक्खा है । जिस समाज में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने के लिए जितने ही अधिक लोग तत्पर पाये जायेंगे उतना ही वह समाज जाग्रत समझा जायगा । श्रद्धा की सामाजिक विशेपता एक इसी बात से समझ लीजिए कि जिस पर हम श्रद्धा रखते है उस पर चाहते है कि अगर लोगे भी श्रद्धा रक्खें, पर जिस पर हमारा प्रेम होता है उससे और दस-पाँच आदमी प्रेम रक्खें—इसकी हमे परवा क्या इच्छा ही नही होती; क्योंकि हम प्रिय पर लोभवश एक प्रकार का अनन्य अधिकार या इज़ारा चाहते है । श्रद्धालु अपने भाव में संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है, पर प्रेमी नही ।

जव तक समष्टि-रूप में हमें संसार के लक्ष्य का वोध नही होता और हमारे अन्तःकरण मे सामान्य आदर्शों की स्थापना नही होती तव तक हमे श्रद्धा का अनुभव नहीं होता । वच्चों मे कृतज्ञता का भाव पाया जाता है । पर सदाचार के प्रति उस कृतज्ञता का नही जिसे श्रद्धा कहते है । अपने साथ किये जानेवाले जिस व्यवहार के लिए वे कृतज्ञ होते है उसी को दूसरों के साथ होते देख कर्त्ता के प्रति कृतज्ञ होना वे देर में सीखते है—उस समय सीखते हैं जव वे अपने को किसी समुदाय का अंग समझने लगते है । अपने साथ या किसी विशेप मनुष्य के साथ किये जानेवाले व्यवहार के लिए जो कृतज्ञता होती है वह श्रद्धा नही है । श्रद्धालु की दृष्टि सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेप की ओर नही । अपने सम्वन्धी

के प्रति किसी को कोई उपकार करते देख यदि हम कहे कि उस पर हमारी श्रद्धा हो गयी है तो यह हमारा पाखंड है, हम झूठ-मूठ अपने को ऐसे उच्च भाव का धारणकर्ता प्रकट करते ह। पर उसी सज्जन को दस-पाँच और ऐसे आदमियो के साथ जब हम उपकार करते देखे जिन्हे हम जानते तक नही और इस प्रकार हमारी दृष्टि विशेष से सामान्य की ओर हो जाय, तब यदि हमारे चित्त मे उसके प्रति पहले से कही अधिक कृतज्ञता या पूज्य-बुद्धि का उदय हो तो हम श्रद्धालु की उच्च पदवी के अधिकारी हो सकते ह। सामान्य रूप मे हम किसी के गुण या शक्ति का विचार सारे ससार से सबद्ध करके करते ह, अपने से या किसी विशेष प्राणी से सम्बद्ध करके नही। हम देखते ह कि किसी मनुष्य मे कोई गुण या शक्ति ह जिसका प्रयोग वह चाहे जहाँ और जिसके प्रति कर सकता है।

श्रद्धा का मूल-तत्त्व है दूसरे का महत्त्व स्वीकार। अतः जिनकी स्वार्थबद्ध दृष्टि अपने से आगे नही जा सकती अथवा अभिमान के कारण जिन्हे अपनी ही बडाई के अनुभव की लत लग गई है उनकी इतनी समाई नही कि वे श्रद्धा ऐसे पवित्र भाव को धारण करे। स्वार्थियो और अभिमानियों के हृदय में श्रद्धा नही टिक सकती। उनका अन्तःकरण इतना सकुचित और मलिन होता है कि वे दूसरों की कृति का यथार्थ मूल्य नही परख सकते।

स्थूल रूप से श्रद्धा तीन प्रकार की कही जा सकती है—

१. प्रतिभा-सम्बन्धिनी,

२. शील-सम्बन्धिनी और

३. साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी।

प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अन्तःकरण की उस उद्‌भाविका क्रिया से है जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना क्षेत्रों में नई-नई बाते या कृतियाँ उपस्थित की जाती है। यह ग्रहण और धारणा-शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा इधर-उधर से प्राप्त ज्ञान (विद्वत्ता) संचित किया जाता है। कला-सम्बन्धिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में भी थोड़ी-बहुत मार्मिक निपुणता चाहिए, इससे उसका अभाव कोई भारी त्रुटि नही, वह क्षम्य है। यदि

किसी उत्तम काव्य या चित्र की विशेपता न समझने के कारण हम कवि या चित्रकार पर श्रद्धा न कर सकें तो यह हमारा अनाड़ीपन है—हमारे रुचि-संस्कार की त्रुटि है। इसका उपाय यही है कि समाज कला-संबंधिनी मर्मज्ञता के प्रचार की व्यवस्था करे, जिससे विविध कलाओं के सामान्य आदर्श की स्थापना जन-समूह में हो जाय। पर इतना होने पर भी कला-सम्वन्धिनी रुचि की विभिन्नता थोड़ी-वहुत अवश्य रहेगी अश्रद्धालु रुचि का नाम लेकर ईर्ष्या या अहंकार के दोपारोपण से वच जाया करेंगे।

पर शील-सम्वन्धिनी श्रद्धा प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। शील या धर्म के सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्य जन समुदाय मे प्रतिष्ठित है। धर्म ही से मनुष्य-समाज की स्थिति है, अतः उसके संबंध में किसी प्रकार का रुचि-भेद, मत-भेद आदि नहीं। सदाचारी के प्रति यदि हम श्रद्धा नही रखते तो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नही करते। यदि किसी को दूसरों के कल्याण के लिए भारी स्वार्थ-त्याग करते देख हमारे मुँह से 'वन्य-वन्य' भी न निकला तो हम समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हमसे कोई आशा नही, हम समाज में रहने योग्य नही। किसी कर्म में प्रवृत्त होने से पहले यह स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वह कर्म या तो हमारे लिये या समाज के लिए अच्छा है। इस प्रकार की स्वीकृति कर्म की पहली तैयारी है। श्रद्धा-द्वारा हम यह आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं कि कर्म के अमुक-अमुक दृष्टान्त धर्म के हैं अतः श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है। धर्म के इस प्रथम सोपान पर प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिए, जिसमें जव कभी अवसर आये तव वह कर्म-रूपी दूसरे सोपान पर हो जाय।

अब रह गई साधन-सम्पत्ति-सम्वन्धिनी श्रद्धा की वात। यहाँ पर साधन-सम्पन्नता का ठीक-ठीक भाव समझ लेना आवश्यक है। साधन-सम्पत्ति का अनुपयोग भी हो सकता है, सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। किसी को पद्य रचने की अच्छी अभ्यास-सम्पन्नता है। यदि शिक्षा-द्वारा उसके भाव उन्नत हैं, वह सहृदय है तो वह अपनी इस सम्पन्नता का उपयोग मनोहर उच्चभाव-पूर्ण काव्य प्रस्तुत

करने में कर सकता है, यदि उसकी अवस्था ऐसी नहीं है तो वह या तो साधारण, भाव-शून्य गद्य को गीतिका, शिखरिणी आदि नाना छन्दों में परिणत करेगा या अपनी भद्दी और कुरुचि-पूर्ण भावनाओं को छन्दोबद्ध करेगा। उसके इस कृत्य पर श्रद्धा रखनेवाले भी बहुत मिल जायँगे। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है वह साधन-सम्पन्नता पर ही होती है, साध्य की पूर्णता पर नहीं।

देशी कारीगरी, चित्रकारी, संगीत आदि में नियम पालन के अभ्यास द्वारा प्राप्त इस साधन-सम्पन्नता ही पर इधर बहुत दिनों से अधिक ध्यान दिया जाने लगा था और मानव-हृदय पर इन मनोहारिणी कलाओं के प्रभाव का बहुत कम विचार होने लगा था। बहुत से पुराने मकानों की कारीगरी देखिए तो उनमें बहुत-सा काम गिर्चापिच किया हुआ दिखाई देगा, ऐसे महीन बेल-बूटों की भिन्न-भिन्न पटरियाँ दीवारों में जमाई हुई मिलेंगी जो बिना आँख को पास ले जाकर सटाये स्पष्ट न जान पड़ेंगे। सारे मकान को एक बार में देखने से इन सबों का सम्मिलित प्रभाव दृष्टि और मन पर क्या पड़ेगा, इसका कुछ भी विचार बनानेवालों ने नहीं किया, यह स्पष्ट दिखाई पडेगा। ऐसे कामों में अभ्यास का तथा समय और श्रम के व्यय (या अपव्यय) का पूरा परिचय मिलता है, पर विचार और सहृदयता पूर्वक उनके उपयोग का बहुत कम। समझने की बात है कि इमारत हाथ पर लेकर देखने की चीज नहीं है, दस-पाँच हाथ दूर पर खडे होकर देखने की चीज है।

चित्रकारी की दशा भी इसी प्रकार की गई थी। राधाकृष्ण कदम्ब के नीचे खड़े है। कदम्ब की एक-एक पत्ती अलग-अलग बारीकी के साथ बनी दिखाई पड़ती है। राधा की चुनरी की एक-एक बूटी बड़ी सावधानी और मिहनत के साथ बनाई गई है। देखनेवाले को यह नहीं जान पड़ता कि वह कुछ दूर पर खड़ा होकर कदम्ब और राधाकृष्ण को एक साथ देख रहा है, बल्कि यह जान पडता है कि कभी तो पत्तियाँ गिनने के लिए वह पेड पर चढता है और कभी नमूना लेने के लिए चुनरी हाथ में लेता है। ऐसी रचनाओं के प्रति यदि श्रद्धा प्रकट की जायगी तो वह अभ्यास, श्रम और बारीकी अर्थात् साधन-सम्पन्नता के विचार से होगी, साध्य की

पूर्णता अर्थात् कला के विचार से नहीं जिसका उद्देश्य मानव-हृदय पर मधुर प्रभाव डालता है।

संगीत के पेंच-पांच देखकर भी हठयोग याद आता है। जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अंगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है उस समय बडे-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप वैठे रहने वाले बड़े-बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है। जो संगीत नाद की मधुर गति द्वारा मन में माधुर्य का संचार करने के लिए था वह इन पक्के लोगों के साथ में पड़कर केवल स्वरग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद हो गया। श्रद्धालुओं के अन्तःकरण की मार्मिकता इतनी स्तब्ध हो गई कि एक खर-श्वान के गले से भी इस लम्बी कवायद को ठीक उतरते देख उसके मुँह से 'वाह', वाह 'ओहो हो' निकलने लगा। काव्य पर शब्दालङ्कार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया। वात यह हुई कि इन विविध कलाओं के जितने अभ्यासगम्य और श्रमसाध्य अङ्ग थे वे तो हद से बाहर घसीटे गये और जितने सहृदयता से सम्बन्ध रखनेवाले थे उन पर ध्यान ही न रहा। यदि ये कलाएँ मूर्तिमान् रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को पीलपाँव! इनकी दशा सोने और रत्नों से जड़ी गुठली धार तलवार की-सी हो गई है।

किसी मनुष्य में वहुत अधिक शारीरिक वल देख उस पर जनसाधारण की श्रद्धा होती है और होनी चाहिए। प्रो० राममूर्ति को मोटर रोकते, लोहे के मोटे-मोटे सीकड़ तोड़ते, छाती पर ४० मन का पत्थर रखते; हाथी खड़ा करते और गाड़ी दौड़ाते देख उनके शारीरिक वल के कारण उन पर श्रद्धा होती है। अव इस सम्पन्नता का वे सदुपयोग भी कर सकते हैं, दुरुपयोग भी कर सकते हैं, और अनुपयोग भी कर सकते हैं। वे इसके द्वारा किसी भारी संकट से अपनी या दूसरे की रक्षा भी कर सकते हैं और किसी निरपराध को पीड़ित भी कर सकते हैं पर हमारी श्रद्धा विना सदुपयोग या दुरुपयोग की सम्भावना की कल्पना किये शुभ-साधन-सम्पन्नता ही, पर होती है। कोरे विद्वानों के प्रति जो श्रद्धा होती है वह भी साधन-सम्पन्नता ही के सम्बन्ध में होती है, उसके उपयोग

की निपुणता या प्रतिभा पर निर्भर नही होती। विद्वत्ता किसी विषय की बहुत सी बातों की जानकारी का नाम है, जिसका संचय बहुत कष्ट, श्रम और धारणा से होता है। यह बात विद्वान् की प्रतिभा पर निर्भर है कि वह ज्ञान का भण्डारी और उपयोग-कर्त्ता दोनों हो—अर्थात् वह उत्तम चिन्तक, वक्ता, लेखक, अन्वेषक या कवि भी होकर उस संचित साधन का उपयोग करे और अपने मूल विचारों का प्रभावपूर्ण प्रकाश करे! यदि विद्वान् में यह प्रतिभा नही है—यह शक्ति नही है—तो वह अपनी संचित जानकारी को कला-कुशल और प्रतिभाशाली लेखकों या तत्वान्वेषकों के सामने रख दे कि वे उससे आवश्यकतानुसार काम ले। इस रीति से उनकी विद्वत्ता सामाजिक उपयोग मे आ जायगी।

भिन्न-भिन्न मानसिक संस्कार के लोगों में किसी विषय से सम्बन्ध रखने वाली श्रद्धा भिन्न-भिन्न मात्रा की हुआ करती है। यदि किसी को शारीरिक बल, साहस या चतुराई पर अत्यन्त अधिक श्रद्धा है तो वह इनका दुरुपयोग देखकर भी बनी रह सकती है। अत्याचारियों के बल, डाकुओ के साहस और लम्पटो की चालाकी की तारीफ संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। एक बात और है। यदि किसी पर किसी एक विषय में अत्यन्त अधिक श्रद्धा है तो उसकी अन्य विषयों की त्रुटियों पर ध्यान नही जाता और कभी ध्यान भी जाता है तो वे भी सुहावनी लगती है। कोई प्रतिभाशाली कवि विलासप्रिय, मद्यप या सनकी है तो जो अत्यन्त काव्य-प्रेमी होगे उनकी घृणा को उसके ये दुर्गुण पूर्ण रूप से आकर्षित न कर सकेंगे। यहाँ तक कि उसके इन दुर्गुणों की चर्चा भी वे बड़ी रुचि के साथ करेंगे और सुनेंगे। बात यह है कि मनुष्य का अन्तःकरण एक है। उसकी एक साथ दो परस्पर-विरुद्ध स्थितियाँ नही हो सकती। इस प्रकार की मानसिक स्तब्धता को श्रद्धान्धता कह सकते है। यद्यपि श्रद्धान्ध समाज मे उतना अनर्थकारी नही हो सकता, उतना अपराधी नही ठहराया जा सकता, जितना मदान्ध, क्रोधान्ध या ईर्ष्यान्ध, पर उसकी श्रद्धा के बढ़ते-बढ़ते क्रियमाण रूप धारण करने पर और शील-सम्बन्धिनी चेतना को बिलकुल जवाब मिल जाने पर समाज के अनिष्ट में व्याज से सहायता पहुँच सकती है।

यदि किसी अपव्ययी और मद्यप कवि पर अत्यन्त श्रद्धालु होकर कोई उसकी आर्थिक सहायता करता जाता है तो वह उस अन्याय और उपद्रव का थोड़ा-बहुत उत्तरदाता अवश्य होता है जो कवि जी अपने सहवर्तियों के बीच करने में समर्थ होते हैं। यदि किसी पहलवान के बल पर प्रसन्न होकर कोई उसे हलवा-पूरी खाने के लिए कुछ महीना बाँधता है तो उसके गुण्डेपन के कारण लोगों को पहुँची हुई पीड़ा के दोप का वह कम से कम उतना भाग अवश्य पा सकता है जितना इन्द्रकृत हत्या की बँटाई के समय बहुतों को मिला था। उद्देश्य के अभाव के बल से यद्यपि इन श्रद्धालुओं पर दोप उतना सटीक नही लग सकता, पर समाज की दृष्टि में वे दान के पात्रता-सम्बन्धी अविवेक के अभियोग से नहीं बच सकते।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शील, कला और साधन-सम्पत्ति—श्रद्धा के इन तीनों विपयों में से किसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिये और किसका पीछे। इसका बेधड़क यही उत्तर दिया जा सकता है कि जन-साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुप्य मात्र की सामान्य स्थिति रक्षा से है। उसके अभाव में समाज या उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिसमें कलाओं की उपयोगिता या मनोहारिता का प्रसार और साधन-सम्पत्ति की प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है।

दूसरों की श्रद्धा संसार में एक अत्यन्त वांछनीय वस्तु है, क्योंकि वह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय या विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय कार्य सुगम होता है—जीवन की कठिनता कम होती है। जिस पर लोगों की अश्रद्धा होती है उसके लिए व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बन्द हो जाते हैं—उसे या तो काँटों पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना पड़ता है। पर जो किसी प्रकार दूसरों की श्रद्धा सम्पादित कर लेता है, उसके पैर रखने के लिए फूलों की पंखड़ियाँ—आजकल लाल बनातें—बिछाई जाती है। समाज में ये वस्तुएँ सच्चे गुणियों और परोपकारियों के लिए है पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत से चोर, चाई और लुटेरे रहते है जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी तुच्छ मान-सिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी साव-

धान रहना चाहिए। इन्हे सामाजिक दंड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिये। ये अनेक रूपों में दिखाई पडते है। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डङ्का पीटता दिखाई देता है, कोई देश-हितैषिता का लम्बा चोडा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।

मनुष्य किसी ओर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है—मन से, वचन से कर्म से। इनमें से मन तो देखने-दिखाने की चीज नहीं। वाणी और कार्य-प्रणाली की नकल की जाती है और बड़ी सफाई से की जाती है। हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी, पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते है। कहीं-कही केवल वचन ही से काम निकल जाता है। एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बरतन का मोल-भाव कर रहे थे कि इतना नहीं। इतना लो तो लो। इतने ही में सौभाग्यवश दूकानदार जी को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गये। और उन्होंने चट कहा—"माया छोड़ो और इसे ले लो।" सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्य-क्षेत्र! वहाँ न माया छोड़ी जायगी तो कहाँ छोड़ी जायगी! थोडे दिन हुए, किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिये होते है। तब से वे बराबर अपने में इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न मे लगे रहते है। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृतकार्य भी हुए है पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी-खेल नहीं, भूल-चूक से कुछ समझदारी की बाते मुँह से निकल ही जाती है।

जैसे और सब विद्याओं की वैसी ही पर-श्रद्धा-कर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। आश्चर्य नही कि इसके लिए कुछ दिनों मे एक अलग विद्यालय खुले। श्रद्धा के यथार्थ कारण का जितना ही अभाव हो आकर्षक को, अपनी विद्या में उतना ही दक्ष समझना चाहिये। आजकल सार्वजनिक उद्योगों की बड़ी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार-व्रत करते सुने जाते है। ऊपर कहा जा चुका है कि पर श्रद्धा के सहारे कार्य में सुगमता आती है, अतः किसी कार्य-साधना के लिए जो लोग प्रयत्न-द्वारा दूसरों के हृदय मे श्रद्धा उत्पन्न करते है वे उस कार्य के अनुसार चतुर, नीति-कुशल, धूर्त या पाखंडी कहे जाते है।

पर संसार में वहुत ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें अपने ऊपर पराई श्रद्धा के चिन्तन से जो एक प्रकार का आनन्द मिलता है उसकी लत पड़ जाती है। पर-श्रद्धा को मनोरंजन या मानसिक भोग-विलास की एक सामग्री समझते हैं। वे पराई श्रद्धा केवल इसी निमित्त चाहते हैं, और किसी उद्देश्य से नहीं। ऐसे पर-श्रद्धाभिलापियों को मानसिक दुर्व्यसन रहता है और वे उसी प्रकार दुर्व्यसनी कहे जा सकते हैं जिस प्रकार शरावी, गँजेड़ी और चण्डूवाज आदि। पर समाज की श्रद्धा ऐसे अपव्यय के लिए नहीं है, प्रयोजन के लिए है। ऐसे लोग अपनी धुन में कभी-कभी वड़े-वडे सार्वजनिक कार्य भी छेड़ वैठते हैं जिनका होना उन्हें इतना अभीष्ट नही होता जितना अपने द्वारा होना। ये लोग पहचाने इस प्रकार जाते है कि वे उन कार्यों से अपने नाम का वियोग घड़ी भर भी नहीं सह सकते, यहाँ तक कि यदि वे दूसरों को कोई ऐसा कार्य हाथ में लेते देखते हैं जिसमें समाज के साधुवाद की सम्भावना होती है तो इनका पेट फूलने लगता है और ये या तो गुप्त रूप से उसमें विघ्न की व्यवस्था करते है या कम से कम उसके महत्त्व को वहुत कम करके दिखाया करते हैं। दूसरी पहचान यह है कि वे लोग ऐसे ही काम ठानते हैं जिनका नाम और आडम्वर वड़ा होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धावान् अपनी श्रद्धा द्वारा श्रद्धेय में कोई ऐसा परिवर्तन उपस्थित नहीं किया चाहता जिसका अपने लिए कोई अनुकूल फल हो। श्रद्धावान् श्रद्धेय को प्रसन्न करने की इच्छा कर सकता है, पर उस प्रसन्नता से आप कोई लाभ उठाने की नही। श्रद्धा न्याय-वुद्धि के पलड़े पर तुली हुई एक वस्तु है जो दूसरे पलडे पर रक्खे हुए श्रद्धेय के गुण, कर्म आदि के हिसाव से होती है। श्रद्धा सत्कर्म या सद्गुण ही का मूल्य है जिससे और किसी प्रकार का सौदा नही हो सकता। पर जव कि इस व्यापार-युग में ज्ञान विकता है, न्याय विकता है, धर्म विकता है—तव श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न विके ? पर असली भाव तो इस लेन-देन के व्यवहार के लिए उपस्थित नही किए जा सकते। खैर, नकली सही। एक भाव पर दूसरे भाव की कलई करके हम वाजार में क्यों न जायं। अपनी भीरुता या चापलूसी को हम 'श्रद्धा-श्रद्धा' कहकर गलियों और

संवाद-पत्रों में क्यों न पुकारें ? ऐसे झूठे श्रद्धा-पात्रों को क्यों न मात करें, जब कि आजकल झूठे मोती सच्चे मोतियों को मात करते हैं ?

कला-कुशल या सदाचारी अपने चारों ओर प्रसन्नता देखना चाहता है, अतः अपनी श्रद्धा-द्वारा हम उसे अपनी प्रसन्नता का निश्चय मात्र कराते हैं। हमारी प्रसन्नता से उसे अपनी सामर्थ्य का बोध हो जाता है और उसका उत्साह बढ़ता है। इस प्रकार अपनी श्रद्धा-द्वारा हम भी समाज का मंगल साधन करते हैं। दूसरे की श्रद्धा का श्रद्धेय पर उतना ही प्रभाव पड़ना चाहिए, उससे अधिक नहीं। यदि हमारी श्रद्धा के कारण वह हमें किसी प्रकार का लाभ पहुँचाना चाहता है तो वह हमारी श्रद्धा को खुशामद समझता है और हमारा अपमान करता है। श्रद्धा में याचकता का भाव लेश-मात्र भी नहीं है। श्रद्धा-द्वारा हम अपने हृदय का परिचय मात्र देते हैं कि उसमें धार्मिकता या धर्म-भाव है—सात्विक आचरण या प्रतिभा की कला से प्रसन्न होने की क्षमता है। यदि हमें किसी पर श्रद्धा है तो हमें उसके पास जा कर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'महाराज मेरी यह श्रद्धा स्वीकार हो, इस प्रकार की स्वीकृति की हमें कोई आवश्यकता नहीं। हम अपनी श्रद्धा लिये अपने घर बैठे रह सकते हैं या उसे इस रीति से प्रकट कर सकते हैं जिस पर श्रद्धेय का कोई वश नहीं। यदि हमें किसी सुलेखक पर श्रद्धा है और वह हमसे रुष्ट है तो भी हम उसका सच्चा चित्र और चरित्र छाप सकते हैं। इसका स्वत्व हमें समाज द्वारा प्राप्त है—इसका हक हमें कानून से हासिल है पर वही यदि हम उस सुलेखक से प्रेम करने चलें, उसके साथ-साथ लगे फिरें और हरदम उसे घेरे रहें तो वह हमें हटा सकता है। श्रद्धा प्रदर्शित करने का जितना विस्तृत सामाजिक अधिकार हमें प्राप्त है उतना उसके विपरीत भाव अश्रद्धा या घृणा प्रकट करने का नहीं, क्योंकि श्रद्धा यदि हमने भूल से या स्वार्थवश प्रकट की तो किसी को उतनी हानि नहीं, पर यदि घृणा भूल से या द्वेष-वश प्रकट की तो व्यर्थ का असन्तोष और दुख फैल सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धा के विषय तीन हैं—शील, प्रतिभा और साधन-सम्पत्ति। शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से

रञ्जन, और साधन-सम्पत्ति से शील-साधन और प्रतिभा-विकास दोनों की सम्भावना है। श्रद्धेय समाज की स्थिति या सुख का विधान करता है और समाज उसकी स्थिति और सुख का विधान करता है। समाज अपने श्रद्धालु प्रतिनिधियों को कभी तो उसे आपत्ति से बचाने के लिए भेजता है—कभी कुछ भेंट उसके सामने रखने के लिए। श्रद्धावश जो दान दिया जाता है वह उसी प्रकार की भेंट है। सच्चा दान दो प्रकार का होता है—एक वह जो श्रद्धा-वश दिया जाता है, दूसरा वह जो दया-वश दिया जाता है। पण्डितों, विद्वानों और धार्मिकों को जो दान दिया जाता है वह श्रद्धावश दिया जाता है, अंधों, लूलों और लँगड़ों को जो दान दिया जाता है वह दयावश दिया जाता है। श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति। जन-साधारण अपनी दया द्वारा केवल असामर्थ्य के उपस्थित परिणामों का, कुछ स्थान के बीच और कुछ काल तक के लिए निवारण कर सकते हैं, अतः श्रद्धा द्वारा वे ऐसे असाधारण जनों को अपने वित्तानुसार थोड़ी-थोड़ी शक्ति दान करते है जो असामर्थ्य के कारणों के निराकरण में समर्थ होते हैं।

श्रद्धा-वश दान में उपयोगिता का तत्त्व छिपा हुआ है। स्मृतियों में श्रद्धावश दान पर बड़ा जोर दिया गया है और ऐसे दान के विषय में पात्रापात्र का विचार भी खूब किया गया है। विद्या-दान में रत विद्वानों को, परोपकार में रत कर्मवीरों को, मानव-ज्ञान की वृद्धि में तत्पर तत्त्वान्वेषकों को जो अभाव हो उसे हमें समाज की भूख समझनी चाहिए। इन्हें जो कुछ हम श्रद्धावश देते हैं वह ठीक समाज के दुरुस्त पेट में जाता है, जहाँ से रस-रूप में उसका संचार अंग-अंग में होता है। इसके विरुद्ध स्वार्थियों, अन्यायियों आदि को जो कुछ दिया जाता है वह समाज के अंग में उसी प्रकार नही लगता जिस प्रकार अतिसार या संग्रहणीवाले को खिलाया हुआ अन्न। भारतवर्ष में श्रद्धा का सम्बन्ध दान के साथ इतना गहरा समझा जाता है कि अश्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान निष्फल माना जाता है। इसी से शुष्क प्रथानुसरण के रूप में भी यदि कुछ दिया जाता है तो श्रद्धा का नाम ले लिया जाता है। पंडों-पुरोहितों को देते हुए यजमान भी कहता है कि 'महाराज ! इतनी ही श्रद्धा है' और पंडे-पुरोहित भी कहते है कि

'जितनी श्रद्धा हो उतना दो', यद्यपि इन पंडों और पुरोहितों के सम्बन्ध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान्, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं। मनोविकार के उपर्युक्त विषयों के निश्चय में कभी-कभी बुद्धि की भी थोड़ी बहुत आवश्यकता होती है, क्योंकि एक ही व्यक्ति के प्रति किसी को श्रद्धा होती है और किसी को अश्रद्धा। इसका कारण घृणा के अन्तर्गत अच्छी तरह दिखाया गया है।

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि से आनन्द का अनुभव होने लगे—जब उससे सम्बन्ध रखनेवाला श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति-रस का संचार समझना चाहिए। जब श्रद्धेय का उठना, बैठना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, क्रोध करना आदि भी हमें अच्छे लगने लगें तब हम समझ लें कि हम उसके भक्त हो गए। भक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर हम अपने जीवन का थोड़ा या बहुत अंश उसे अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं और उसके जीवन-क्रम पर भी अपना कुछ प्रभाव रखना चाहते हैं। कभी हम अर्पण करते हैं और कभी याचना करते हैं। सारांश यह कि भक्ति द्वारा हम भक्ति-भाजन से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं—उसकी सत्ता में विशेष रूप से योग देना चाहते हैं। किसी के प्रति श्रद्धा धारण करके बहुत करेंगे तो समय-समय पर उसकी प्रशंसा करेंगे; उसकी निन्दा करने वालों से झगड़ा करेंगे या कभी कुछ उपहार लेकर उपस्थित होंगे, पर जिसके प्रति हमारी अनन्य भक्ति हो जायगी वह अपने जीवन के बहुत से अवसरों पर हमें अपने साथ देख सकता है। वह अपने बहुत से उद्योगों में हमारा योगदान पा सकता है। भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत अंश स्वार्थ (परिवार व शारीरिक सुख आदि) से विभक्त करके किसी के आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं। इसी का नाम है आत्मनिवेदन।

महात्माओं के ऊपर श्रद्धा मात्र करके हम उन्हें जीवन-शक्ति द्वारा

उपार्जित कोई फल अर्पित कर सकते है, पर उनके भक्त होकर हम उन्हें अपने जीवन ही के कुछ अंश को अर्पित कर देते हैं। किसी वीरव्रती महात्मा पर बहुत श्रद्धालु होकर हम आर्थिक सहायता द्वारा उसके लिए कुछ सुभीता कर सकते है, अपने वचनों से उसे प्रसन्न और उत्साहित कर सकते हैं, पर उसके भक्त वन कर हम अपने शारीरिक बल को उसका शारीरिक बल वनायेंगे, अपनी जानकारी और चतुराई को उसकी जानकारी और चतुराई वनायेगे, अपनी वाग्मिता को उसकी वाग्मिता बनायेंगे, अपनी तत्परता को उसकी तत्परता वनायेगे, यहाँ तक कि जो कुछ हमसे होगा उसे उसका कर डालेगे और इसी प्रकार उसके जीवन में अपने जीवन का योग देकर उसके सामाजिक महत्त्व या प्रभाव को वढ़ायेंगे और उसके थोड़े-वहुत हम भी भागी होंगे। श्रद्धा द्वारा हम दूसरे के महत्त्व के किसी अंश के अधिकारी नही हो सकते, पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं। यहाँ तक कि दूसरे की भक्ति करके हम तीसरे की भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। राम पर अनन्य भक्ति करके हनुमान्, अन्य राम-भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धालु अपने जीवन-क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है; पर भक्त उसकी काट-छाँट में लग जाता है। अपने आचरण द्वारा दूसरों की भक्ति के अधिकारी होकर ही संसार के वड़े-वड़े महात्मा समाज के कल्याण-साधन में समर्थ हुए है। गुरु गोविन्दसिह को यदि केवल दण्डवत् करनेवाले और गद्दी पर भेंट चढ़ानेवाले श्रद्धालु ही मिलते, दिन-रात साथ रहनेवाले—अपने सारे जीवन को अर्पित करनेवाले—भक्त न मिलते तो वे अन्याय-दमन मे कभी समर्थ न होते। इससे भक्ति के सामाजिक महत्त्व को, इसकी लोक-हितकारिणी शक्ति को स्वीकार करने में किसी को आगा-पीछा नहीं हो सकता। सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्पित करो या आकर्पित हो। जैसे इस आकर्पण-विधान के विना अणुओं द्वारा व्यक्त पिण्डों का आविर्भाव नही हो सकता, वैसे ही मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नही हो सकती।

भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी

महत्त्व के अनुकूल भाव का प्रसार और प्रतिकूल भाव का संकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य-लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा बिठा देते हैं—अपने को ऐसे स्वच्छ आदर्श के सामने कर देते हैं जिसमें हमारे कर्मों का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक दिखाई पड़ता है। जिसे अपनी वास्तविक क्षुद्रता का परिज्ञान असह्य होगा वह आदर्शदर्शन के भय से ऐसे महत्त्वादर्श का सामीप्य कभी न चाहेगा, दूर-दूर भागा फिरेगा। 'हमीं-हम' वाले 'तुम भी' नहीं सह सकते, 'तुम्हीं-तुम' की क्या बात है? ऐसे लोग तो स्वयं अपने लिए नरक ढूँढ़ने निकलते हैं। भक्ति के लिए नम्रता अर्थात् दूसरे महत्त्व के साथ अपने लघुत्व की भावना पहली बात है। इस भावना को जब हम मुक्त हृदय से मुग्ध होकर धारण करेंगे और दूसरे पर श्रद्धा कर लेंगे, तब हम उसके महत्त्व के सतत साक्षात्कार के लिए—अनेक रूपों से परिचय के लिए—उसके सामीप्य की इच्छा करते हुए उस श्रद्धा मे प्रेम का भी मिश्रण करेंगे और अपने बहुत से क्रिया-कलाप को अपने पूज्य प्रेम-पात्र के अधीन करके स्वयं महत्त्व के अभ्यास मे प्रवृत्त होंगे। जन-साधारण के लिए इस प्रकार के आश्रय द्वारा महत्त्व-प्राप्ति सुगम होती है। जो उच्च पथ पर पहले कष्टकर और श्रम-साध्य जान पड़ता है वही भक्ति के बल से मनोहर लगने लगता है।

व्यक्ति-सम्बन्ध हीन सिद्धान्त-मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हो, पर प्रवर्त्तक मन को अव्यक्त रहते हैं। वे मनोरजनकारी तभी लगते है, जब किसी व्यक्ति के जीवन-क्रम के रूप में देखे जाते हैं। शील की विभूतिया अनन्त रूपो मे दिखाई पड़ती है। मनुष्य जाति ने जब से होश सँभाला, तब से वह इन अनन्त रूपों को महात्माओं के आचरणों तथा आख्यानों और चरित्र-सम्बन्धी पुस्तको मे देखती चली आ रही है। जब इन रूपों पर मनुष्य मोहित होता है, तब सात्विक शील की ओर आप से आप आकर्षित होता है। शून्य सिद्धान्त वाक्यों मे कोई आकर्षण-शक्ति या प्रवृत्तिकारिणी क्षमता नही होती। 'सदा सत्य बोलो', 'दूसरों की भलाई हो', 'क्षमा करना सीखो'—ऐसे-ऐसे सिद्धान्त-वाक्य किसी को बार-बार बकते सुन वैसा ही क्रोध आता है जैसे किसी बेहूदे की बात सुनकर। जो इस प्रकार की बाते करता चला जाय उससे चट कहना

चाहिए—'वस चुप रहो, तुम्हें वोलने की तमीज नहीं, तुम वच्चों या कोल-भीलों के पास जाओ। ये वातें हम पहले से जानते हैं। मानव-जीवन के वीच हम इसके सौन्दर्य का विकास देखना चाहते हैं। यदि तुम्हें दिखाने की प्रतिभा या शक्ति हो तो दिखाओ, नही तो चुपचाप अपना रास्ता लो।' गुण प्रत्यक्ष नही होता, उसके आश्रय और परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं। अनुभावात्मक मन को आकर्पित करनेवाले आश्रय और परिणाम हैं, गुण नही। ये ही अनुभूति के विपय हैं। अनुभूति पर प्रवृत्ति और निवृत्ति निर्भर है। अनुभूति मन की पहली क्रिया है, संकल्प-विकल्प दूसरी। अतः सिद्धान्त-पथों के सम्वन्ध में जो आनन्दानुभव करने की वातें हैं जो अच्छा लगने की वातें है, वे पथिकों में तथा उनके चारों ओर पाई जायँगी। सत्पथ के दीपक उन्ही के हाथ में हैं—या वे ही सत्पथ के दीपक हैं। सत्वोन्मुख प्राणियों के लिए ऐसे पथिकों के सामीप्य-लाभ की कामना करना स्वाभाविक ही है।

सामीप्य से अभिप्राय केवल किसी के साथ-साथ लगा रहना नहीं है। श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि भी सामीप्य ही के विधान हैं। वाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रयत्नों से सामीप्य की सिद्धि होती है। स्मरण द्वारा हम अपने आराध्य को—उसके कर्म-क्षेत्र को अपने अंतःकरण के सामने उपस्थित करते हैं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जव हम इष्ट के कर्म-क्षेत्र को सामने लाते हैं तव उसमें ऐसे लोग भी तो आ जाते हैं जिन पर हमारी कुछ भी भक्ति नहीं। हाँ' आते अवश्य हे। इनके द्वारा हमारे इष्ट के स्वरूप का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है—इनके वीच उनका (इष्ट का) रंग और खुल पड़ता है। यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी हमारे काम का है। एक में हम अपने लिए प्रवृत्ति का क्रम पाते हैं, दूसरे में निवृत्ति का। जीवन में इन निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रवाह साथ-साथ चलता है। दुराचारी भी यदि अपने दुराचार का फल संसार के सामने पूर्ण रूप से भोग लेता है तो समाज के लिए उपयोगी ठहर जाता है। राम के हाथ से मारे जाने से रावण का जीवन भी सार्थक हो गया। यदि पापी अपने पाप का फल एकांत में या आत्मा में ही, भोगकर चला जाता है तो वह अपने जीवन की सामाजिक उपयोगिता

की एकमात्र संभावना को भी नष्ट कर देता है। इसी से बहुत से प्रायश्चित्तों के विधान में किए हुए पापों का सबके समक्ष कथन आवश्यक होता है।

पाप का फल छिपानेवाला पाप छिपानेवाले से अधिक अपराधी है पर ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो किसी का घर जलाते हाथ जलता है तो कहते हैं कि होम करते जला है। दुराचारियों के जीवन का सामाजिक उपयोग करने के लिए ही—संसार में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया। यदि अधर्म मे तत्पर कौरवों का नाश न होता और पाण्डव जीवन भर मारे-मारे ही फिरते तो संसार मे अन्याय और अधर्म की ऐसी लीक खिंच जाती जो मिटाये न मिटती। जिस समाज मे सुख और वैभव के रंग मे रँगी अधर्म की ऐसी लीक दिखाई पड़े उसमे रक्षा करनेवाली आत्मा का अभाव तथा विश्वात्मा की विशेष कला के अवतार की आवश्यकता समझनी चाहिए, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति, भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

यदि कही पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका आशु फल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना, लोक-रक्षा का कार्य है। अपने ऊपर किये जानेवाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिए चाहे श्रेष्ठ हो; पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नही खीचता है तो लोक-संग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किये हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।

अब भगवद्भक्ति को लीजिए। ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट हो गया होगा कि मनुष्य की भक्ति के आधार क्या-क्या है। मनुष्य विश्व विधान का एक क्षुद्र चेतन अंश है। उसमे धर्म, अधर्म, दया, निष्ठुरता आदि के भाव विश्व के उतने ही अंश से सम्बन्ध रखते है जितने के भीतर उसे कार्य करना है। यह कार्य और कुछ नही, अपनी समष्टि-स्थिति

और सुख-सन्तोष का प्रयत्न मात्र है। अपने कार्यक्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावों का सामञ्जस्य ढूँढ़ता है तो नहीं पाता है—कहीं उसे 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त चलता दिखाई पड़ता है, कही लाठी और भैंस का। वह सोचता है कि इन बातों का अनुसरण मनुष्य-समाज में भी जान-बूझकर क्यों न किया जाय, यह नही सोचता कि मनुष्य-जाति की स्थिति इन अवस्थाओं से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी में उससे आगे की ओर से कोई भूमि दिखाई नही पड़ रही है। वह दया को निरर्थक समझ अपने अंतःकरण का एक अंग ही खण्डित करना चाहता है। वह किसी को काना देखकर अपनी एक आँख फोड़ने चलता है। कुछ दिन पहले की सभ्यता मनुष्य जीवन को देव तुल्य बनाने में थी; अब मर्कट तुल्य और मत्स्य-तुल्य बनाने में समझी जाने लगी है। पर यह सभ्यता जड़त्व और नाश की ओर ले जानेवाली है। जब हृदय की कुछ उदात्त प्रवृत्तियाँ बोझ मालूम होने लगी हैं तब और प्राणियों की अपेक्षा अपने अंतःकरण की पूर्णता का गर्व मनुष्य जाति कब तक कर सकती है? उसके मार्मिक अंग की व्यापकता के ह्रास और स्तब्धता की वृद्धि के भयंकर परिणाम का आभास योरप दे रहा है। अन्तःकरण की जितनी वृत्तियाँ है उनमें से कोई निरर्थक नही—सबका उपयोग है। इनमें से किसी की शक्ति फालतू नहीं। यदि मनुष्य इनमें से किसी को निष्क्रिय करने का अभ्यास डालेगा तो अपनी पूर्णता को खोएगा और अपनी स्थिति को जोखिम में डालेगा।

मिट्टी के ढेले, गुलाब के पौधे, कुत्ते और बिल्ली की अपेक्षा मनुष्य अपने में अंशी का अधिक अंश समझता है—उन सर्वात्मा का अधिक अंश समझता है—विश्व-विधान जिसकी नित्य क्रिया है; अतः स्थिति रक्षा-विधान की जो-जो बातें अपने में हैं उनका अभाव उससे अंशी या सर्व में मानते नही बनता। दया, दाक्षिण्य, प्रेम, क्रोध आदि अपनी अंशात्मा में देखते हुए सर्वात्मा मे उनके अभाव की धारणा मनुष्य करे तो कैसे करे? अतः ज्ञान-क्षेत्र में ईश्वर की खोज हम उतने ही घेरे में करेंगे जितने में इन्द्रियों की सहायता लेकर बुद्धि पहुंचती है और कर्म-क्षेत्र में उसकी भावना हम उसे उतने ही भावों से परिमित करके करेंगे जितने की हमारे

मन में जगह है। हम हैं, हम समझते हैं कि हम हैं और हम चाहते हैं कि हम रहें, ऐसी अवस्था में हम अपने स्थिति-रक्षा सम्बन्धी भावों को परमावस्था पर पहुँचाकर ही उस परम-भावमय की भावना करेंगे। हम उसे धर्ममय, दयामय, प्रेममय मानेंगे और यह प्रेम उसी रूप का होगा जिस रूप मे उसका व्यवहार मनुष्य-जाति में दिखाई पड़ता है—जिस रूप मे मनुष्य-जाति को उसकी आवश्यकता पड़ती है। अत्याचारी से पीड़ित होकर मनुष्य उसके कोप का आह्वान करता है, आपद्ग्रस्त होकर उसकी दया का भिखारी होता है, सुख से सम्पन्न होकर उसके धन्यवाद के लिए हाथ उठाता है, भक्ति से पूर्ण होकर उसके आश्रय का वांछा करता है। ये ही व्यवहार वह मनुष्यों के साथ भी करता है।

अपने व्यवहार-पथ मे आश्रय-प्राप्ति के निमित्त मनुष्य के लिए ईश्वर की स्वानुरूप भावना ही सम्भव है। स्वानुभूति ही द्वारा वह उस पर-मानुभूति की धारणा कर सकता है। इसी से भर्तृहरि ने 'स्वानुभूत्यैक-मानव', कहकर नमस्कार किया है। यदि चिन्मय मे अपनी इतनी अनुभूति का भी निश्चय मनुष्य को न हो तो वह प्रार्थना आदि क्यों करने जाय? कुत्ते प्रार्थना क्यों नही करते? उनमे धर्म की प्रतिष्ठा नही है—अर्थात् वे चेतना की उस भूमि तक नही पहुंचे है जिनमे समष्टि स्थिति की रक्षा से सम्बन्ध रखनेवालों का संचार होता है। वे यह नही जानते कि एक दूसरे को काटने दौड़ने से कुक्कुर-समाज की उन्नति और वृद्धि नही हो सकती। समष्टि-रक्षा-या धर्म की ओर प्रवृत्ति करने वाले दया आदि भाव उन्हे प्राप्त नही है। उनमे स्वार्थ का भाव है, परमार्थ का भाव नही। 'धर्मो रक्षति रक्षितः', की धारणा उन्हे नहीं होती। जहाँ धर्म-भाव है वहीं ईश्वर की भावना है। जिन प्राणियों मे जिन भावों का विकास नही हुआ है उनमे उनकी चरितार्थता की आवश्यकता प्रकृति नही समझती।

भक्ति का स्थान मानव-हृदय है—वहीं श्रद्धा और प्रेम के संयोग से उसका प्रादुर्भाव होता है। अतः मनुष्य की श्रद्धा के जो विषय ऊपर कहे जा चुके है उन्ही को परमातमा में अत्यन्त विशद रूप में देखकर उसका मन खिंचता है और वह उस विशद-रूप-विशिष्ट का सामीप्य चाहता है,

उसके हृदय में जो सौन्दर्य का भाव है, जो उदारता का भाव है, जो शक्ति का भाव है, उसे वह अत्यन्त पूर्ण रूप में परमात्मा में देखता है और ऐसे पूर्ण पुरुप की भावना से उसका हृदय गद्‌गद हो जाता है और उसका धर्मपथ आनन्द से जगमगा उठता है। धर्म-क्षेत्र या व्यवहार-पथ में वह अपने मतलब भर ही ईश्वरता से प्रयोजन रखता है। राम, कृष्ण आदि अवतारों में परमात्मा की विशेष कला देख एक हिन्दू के हृदय की सारी शुभ और आनन्दमयी वृत्तियाँ उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं, उसके प्रेम, श्रद्धा आदि को बड़ा भारी अवलम्ब मिल जाता है। उसके सारे जीवन में एक अपूर्व माधुर्य और बल का संचार हो जाता है। उसके सामीप्य का आनन्द लेने के लिए कभी वह उनके अलौकिक रूप-सौन्दर्य की भावना करता है, कभी उनकी बाल-लीला के चिन्तन से विनोद प्राप्त करता है, कभी धर्म-बलपूर्ण उनके निर्मल चरित गान करता है, कभी सिर झुकाकर वन्दना करता है—यहाँ तक कि जब जी में आता है, प्रेम से भरा उलाहना भी देता है। यह हृदय द्वारा अर्थात् आनन्द अनुभव करते हुए धर्म में प्रवृत्त होने का सुगम मार्ग है। भक्ति हृदय से की जाती है। बुद्धि से भक्ति करना ऐसा ही है जैसे नाक से खाना और कान से सूँघना। हमारे यहाँ भक्ति-विधान के अन्तर्गत श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य सख्य और आत्म-निवेदन ये नौ बातें ली गई हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कोरी श्रद्धा में याचकता का भाव नही है, जब प्रेम के साथ उसका संयोग होता है तभी इस भाव की प्राप्ति होती है। श्रद्धावान् श्रद्धेय पर अपने निमित्त किसी प्रकार का प्रभाव डालना नही चाहता पर भक्त दाक्षिण्य चाहता है।

रामलीला, कृष्णलीला आदि सामीप्य-सिद्धि के विधान है। इस सामीप्य की कामना, भक्तवर रसखान ने बड़ी मार्मिकता से इस प्रकार प्रकट की है—

मानुष हों तो वही 'रसखान'
बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हों तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नन्द के धेनु मझारन।

पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो किए हरि छत्र पुरंदर-धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कूल-कलिंदी कदंब के डारन॥

रामलीला-द्वारा लोग वर्ष में एक बार अपने पूज्यदेव की आदर्श ...व-लीला का माधुर्य देखते हैं। जिस समय दूर-दूर के गांवों के लोग ...मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटा-मुकुटधारी विजयी ...-लक्ष्मण की मधुर मूर्ति देखते हैं और दूसरी ओर तीरों से विधा रावण ...विशाल शरीर जलता देखते हैं, उस समय वे धर्म के सौंदर्य पर लुब्ध ...धर्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कृष्णलीला ...ौवन की प्रफुल्लता के साथ धर्म-रक्षा के अलौकिक बल का विकास ...है, तब हमारी जीवन-धारण की अभिलाषा दूनी-चौगुनी हो जाती ...हिन्दू-जाति इन्हीं की भक्ति के बल से इनकी प्रतिकूल अवस्थाओं के ...अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बचाती चलती चली आई है—इन्हीं की ...त आकर्षण-शक्ति से वह इधर-उधर ढलने नहीं पायी है। राम और ...को बिना आंसू बहाये छोड़ना हिन्दू-जाति के लिए सहज नहीं था, ...क मानव-जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित होकर उसके एक-एक अंग ...नोहरता दिखानेवाले थे। मंगल के अवसरों पर उनके गीत गाये जाते ...विमाताओं की कुटिलता की, बड़ों के आदर की, दुष्टों के दमन की, ...के कष्ट की, घर की, वन की, सम्पद की, विपद की जहां चर्चा ...है, वहां इनका स्मरण किया जाता है।

...संसार से तटस्थ रहकर शान्ति-सुखपूर्वक लोक-व्यवहार-सम्बन्धी उप-...नेवालों का उतना अधिक महत्त्व हिन्दू-धर्म में नहीं है जितना संसार ...तर घुसकर उसके व्यवहारों के बीच सात्विक विभूति की ज्योति ...वालों का है। हमारे यहां उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गये ...पने जीवन-द्वारा कर्म-सौंदर्य संघटित करनेवाले ही अवतार कहे गये ...र्म-सौंदर्य के योग से उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ गया है कि ...हृदय आप से आप उनकी ओर खिंचा पड़ता है। जो कुछ हम ...हैं—खेलना, कूदना, हँसना, बोलना, क्रोध करना, शोक करना,

प्रेम करना, विनोद करना उन सबमें सौन्दर्य लाते हुए हम जिन्हें देखेंगे उन्हीं की ओर ढल सकते हैं। वे हमें दूर से रास्ता दिखानेवाले नहीं हैं, आप रास्ते में चलकर हमें अपने पीछे लगाने क्या खींचने वाले हैं। जो उसके स्वरूप पर मोहित न हो वह निस्संदेह जड़ है।

सुनि सीतापति सील सुभाउ

मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ ।

जो उनका नाम सुनकर पुलकित होता है, जो उनके स्वरूप पर मोहित होता है, उसके सुधरने की बहुत कुछ आशा हो सकती है। जो संसार या मनुष्यता का सर्वथा त्याग न कर दे, उसके लिए शुद्ध सात्विक जीवन का यही मार्ग है। रागों के सम्पूर्ण दमन की अपेक्षा रागों का परिष्कार ज्यादा काम में आनेवाली बात है। निर्लिप्त रहकर दूसरों का गला काटनेवालों से लिप्त होकर दूसरों की भलाई करनेवाले लोक-कल्याण के विचार से कहीं अच्छे है।

जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करनेवाला क्षात्र-धर्म है। क्षात्र-धर्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्र-धर्म ऐकान्तिक नही है। उसका सम्बन्ध लोक-रक्षा से है। 'कोई राजा होगा तो अपने घर का होगा' इससे बढ़कर झूठ बात शायद ही कोई मिले। झूठे खितावों के द्वारा यह कभी सच नही की जा सकती। कर्म-सौन्दर्य की योजना क्षात्र-जीवन में जितने रूप में सम्भव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नही। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ परदुःख कातरता; प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलम्बन इत्यादि कर्म-सौन्दर्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष-योग और कहाँ घट सकते हैं? इसी से क्षात्र-धर्म के सौन्दर्य में जो मधुर आकर्षण है वह अधिक व्यापक, अधिक मर्मस्पर्शी और अधिक स्पष्ट है। मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमे है।

संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नही हो सकती। इस बात को भूलकर जो उपदेश दिये जाया करते हैं वे पाखंड के अन्तर्गत

जाते हैं। वृत्तियों की भिन्नता के बीच से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोक-रक्षा का मार्ग होगा—वही धर्म का चलता हुआ मार्ग होगा। जिसमें शिष्टों के आदर, दीनों पर दया, दुष्टों के दमन आदि जीवन के अनेक रूपों का सौन्दर्य दिखाई पड़ेगा, वही सर्वांगपूर्ण लोक-धर्म का मार्ग होगा। क्षात्र-धर्म-पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी। कोई व्यापार युग से नहीं हट सकता। किसी अनाथ अबला पर अत्याचार करते पर एक क्रूर पिशाच को हम उधर देख रहे हैं। समझाना-बुझाना या तो व्यर्थ है अथवा उसका समय ही नहीं है। ऐसी दशा में यदि उन अबला की रक्षा इष्ट है, तो हमें चटपट उस कर्म में प्रवृत्त होना होगा जिससे उन दुष्टों को बाधा पहुँचे। उस समय का हमारा क्रोध कितना सुन्दर और अक्रोध कितना गर्हित होगा!

०

कविता क्या है ?

मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों को लिये दूसरों के भावों विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलाता और कहीं लड़ाता हुआ अंत तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनन्त-रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत्। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किये इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योगक्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते है और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता हैं, इस भूमि पर पहुँचे हुये मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नही रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास के हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक-भावात्मक है। इस अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा

जा सकता है जब कि इन भावों का प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य जाति जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है। जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नरजीवन के आरम्भ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है, उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है। अतः काव्य के प्रयोजन के लिए हम उन्हें मूल रूप और मूल व्यापार कह सकते हैं। इस विशाल विश्व के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष और गूढ से गूढ तथ्यों को भावों के विषय या आलम्बन बनाने के लिए इन्हीं मूल रूपों मे और व्यापारों मे परिणत करना पड़ता है। जब तक वे इन मूल मार्मिक रूपो मे नही लाये जाते तब तक उन पर काव्य दृष्टि नही पड़ती।

वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, फूस, शाखा, पशु, पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र इत्यादि ऐसे ही चिरसहचर रूप हैं। खेत, ढुर्री, हल, झोपडे, चौपाये इत्यादि भी कुछ कम पुराने नही है। इसी प्रकार पानी का बहना, सूखे पत्तों का झड़ना, बिजली का चमकना, घटा का घिरना, नदी का उमड़ना, मेह का बरसना, कुहरे का छाना, डर से भागना, लोभ से लपकना, छीनना, झपटना, नदी या दलदल से बाँह पकड़कर निकालना, हाथ से खिलाना, आग में झोंकना, गला काटना ऐसे व्यापारों का भी मनुष्य-जाति के भावों के साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य्य है। ऐसे आदि रूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ-परम्परा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है; अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक सम्भव है वैसा कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्वहरण के लिये जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चरखी घुमाना या एंजिन मे कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नही।

सभ्यता के आवरण और कविता

सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यों के व्यापार बहुरूपी

और जटिल होते गये त्यों-त्यों उसके मूल रूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गये। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गई; वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया। इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं। जैसे आदि में भय का लक्ष्य अपने शरीर और अपनी सन्तति ही की रक्षा तक था, पर पीछे गाय, बैल, अन्न आदि की रक्षा आवश्यक हुई, यहाँ तक कि होते-होते धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व इत्यादि अनेक बातों की रक्षा की चिन्ता ने घर किया और रक्षा के उपाय भी वासनाजन्य प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार के होने लगे। इसी प्रकार क्रोध, घृणा, लोभ अन्य भावों के विषय भी अपने मूल रूपों से भिन्न रूप धारण करने लगे। कुछ भावों के विषय तो अमूर्त्त तक होने लगे, जैसे कीर्ति की लालसा। ऐसे भावों को ही बौद्धदर्शन में 'अरूपराग' कहते हैं।

भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और मूल व्यापारों से भीतर-भीतर बना है और बराबर बना रहेगा। किसी का कुटिल भाई उसे सम्पत्ति से एकदम वंचित रखने के लिए वकीलों की सलाह से एक नया दस्तावेज तैयार करता है। इसकी खबर पाकर वह क्रोध से नाच उठता है। प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से तो उसके क्रोध का विषय है वह दस्तावेज या कागज का टुकड़ा। पर उस कागज के टुकड़े के भीतर वह देखता है कि उसे और उसकी सन्तति को अन्न-वस्त्र न मिलेगा। उसके क्रोध का प्रकृत विषय न तो वह कागज का टुकड़ा है और न उस पर लिखे हुए काले-काले अक्षर। ये तो सभ्यता के आवरण मात्र हैं। अतः उसके क्रोध में और कुत्ते के क्रोध मे जिसके सामने का भोजन कोई दूसरा कुत्ता छीन रहा है; काव्य-दृष्टि से कोई भेद नही है—भेद है केवल विषय के थोड़ा रूप बदलकर आने का। इसी रूप बदलने का नाम है सभ्यता। इस रूप बदलने से होता यह है कि क्रोध आदि को भी अपना रूप बदलना पड़ता है, वह भी कुछ सभ्यता के साथ अच्छे कपड़े-लत्ते पहनकर समाज में आता है जिससे मार-पीट, छीन-खसोट आदि भद्दे समझे जानेवाले व्यापारों का

कुछ निवारण होता है।

पर यह प्रच्छन्न रूप वैसा मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जायँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि कर्म कठिन होता जायगा। ऊपर जिस क्रुद्ध व्यक्ति का उदाहरण दिया गया है, वह यदि कोध से छुट्टी पाकर अपने भाई के मन में दया का संचार करना चाहेगा तो क्षोभ के साथ उससे कहेगा, "भाई! तुम यह सब इसलिए न कर रहे हो कि पक्की हवेली मे बैठकर हलवा-पूरी खाओ और मै बैठा सूखे चने चबाऊँ; तुम्हारे लड़के दोपहर को भी दुशाले ओढ़कर निकलें और मेरे बच्चे रात को भी ठण्ड से काँपते रहे।" यह हुआ प्राकृत रूप का प्रत्यक्षीकरण। इसमें सभ्यता के बहुत से आवरणों को हटाकर वे मूल गोचर रूप से सामने रखे गये है जिनसे हमारे भावों का सीधा लगाव है और जो इस कारण भावों को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ हैं। कोई बात जब इस रूप में आएगी तभी उसे काव्य के उपयुक्त रूप प्राप्त होगा। "तुमने हमे नुकसान पहुँचाने के लिए जाली दस्तावेज बनाया" इस वाक्य मे रसात्मकता नही। इसी बात को ध्यान मे रखकर ध्वनिकार ने कहा है—"नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः।"

देश की वर्तमान दशा के वर्णन में यदि हम केवल इस प्रकार के वाक्य कहते जायें कि "हम मूर्ख, बलहीन और आलसी हो गए है, हमारा धन विदेश चला जाता है, रुपये का डेढ़ पाव घी बिकता है; स्त्री-शिक्षा का अभाव है" तो ये छन्दोबद्ध होकर भी काव्य पद के अधिकारी न होंगे। सारांश यह है कि काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे। जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा। भावों

के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेंगे, जैसे, यशोलिप्सा में कुछ दूर भीतर चलकर उस आनन्द के उपभोग की प्रवृत्ति छिपी हुई पाई जायगी जो अपनी तारीफ कान में पड़ने से हुआ करता था।

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नही चलता; बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपये का डेढ पाव घी मिलता है' इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिम्ब या मूर्ति उपस्थित होगी तो वह तराजू लिए हुए बनिये की होगी जिससे हमारे करुण भाव का कोई लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है, अधिकतर लोग रूखी-सूखी खाकर रहते हैं, इस तथ्य तक हम अर्थग्रहण परम्परा द्वारा इस चक्कर के साथ पहुँचते हैं—एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है, इससे रुपयेवाले ही घी खा सकते है, पर रुपयेवाले बहुत कम हैं, इससे अधिकांश जनता घी नही खा सकती, रूखो-सूखी, खाकर रहती है।

कविता और सृष्टि-प्रसार

हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रकार का प्रसार करती है। यदि अपने भावों को समेट कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी ? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जङ्गलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों और पटपर के बीच खड़ी झाड़ियों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनन्दोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खुले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का उसने विसर्जन न किया, यदि दीन-दुखी का आर्त्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हँसा

तो उसके जीवन में रह क्या गया ? इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा ही समझना चाहिए।

काव्यदृष्टि कहीं तो १. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, २. कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३. कहीं समस्त चराचर के।

१. पहले नरक्षेत्र को लेते हैं। संसार में अधिकतर कविता इसी क्षेत्र के भीतर हुई है। नरत्व की बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का सङ्कलन या उद्भावना ही काव्यों में—मुक्तक हों या प्रबन्ध—अधिकतर पाई जाती है।

प्राचीन महाकाव्यों और खण्डकाव्यों के मार्ग में यद्यपि शेष दो क्षेत्र भी बीच-बीच में पड़ जाते है पर मुख्य यात्रा नरक्षेत्र के भीतर ही होती है। वाल्मीकि रामायण में यद्यपि बीच-बीच में ऐसे विशद वर्णन कुछ मिलते हैं, जिनमे कवि की मुग्ध दृष्टि प्रधानतः मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के रूपजाल में फँसी पाई जाती है, पर उसका प्रधान विषय लोकचरित ही है। और प्रबन्ध-काव्यों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। रहे मुक्तक या फुटकर पद्य, वे भी अधिकतर मनुष्य ही की भीतरी-बाहरी वृत्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। साहित्य-शास्त्र की रस निरूपण-पद्धति में आलम्बनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान ही नहीं मिला है। यह उद्दीपन मात्र मानी गई है। शृङ्गार के उद्दीप्त रूप में जो प्राकृतिक दृश्य लाए जाते है, उनके प्रति रतिभाव नहीं होता, नायक या नायिका के प्रति होता है। वे दूसरे के प्रति उत्पन्न प्रीति को उद्दीपत करनेवाले होते हैं, स्वयं प्रीति के पात्र या आलम्बन नहीं होते। संयोग में वे सुख बढ़ाते हैं और वियोग में काटने दौड़ते है। जिस भावोद्रेक और जिस ब्योरे के साथ नायक या नायिका के रूप का वर्णन किया जाता है, उस भावोद्रेक और उस ब्योरे के साथ उनका नही। कही-कही तो उनके नाम गिनाकर ही काम चला लिया जाता है।

मनुष्यो के रूप, व्यवहार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से जो प्राकृतिक वस्तु-व्यापार आदि लाये जाते है उनका स्थान भी गौण ही समझना चाहिए। वे नर-सम्बन्धी भावना को ही तीव्र करने के

लिए रखे जाते हैं।

२. मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का आलम्बन के रूप में ग्रहण हमारे यहाँ संस्कृत के प्राचीन प्रबन्ध-काव्यों के बीच-बीच में ही पाया जाता है। वहाँ प्रकृति का ग्रहण आलम्बन के रूप में हुआ है, इसका पता वर्णन की प्रणाली से लग जाता है। पहले कह आये हैं कि किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का मन में ग्रहण दो प्रकार का हो सकता है—बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'! अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पंखड़ियों और झुके हुए नाल आदि के सहित एक फूल की मूर्ति मन में थोड़ी देर के लिए आ जाय या कुछ देर बनी रहे; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हों; केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चला लिया जाय। काव्य के दृश्य-चित्रण मे पहले प्रकार का संकेत ग्रहण अपेक्षित होता है और व्यवहार तथा शास्त्रचर्चा में दूसरे प्रकार का। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है। अतः जहाँ ऐसा पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण मिले, वहाँ समझना चाहिए कि कवि ने बाह्य प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि का यह हेमन्त वर्णन लीजिए—

अवश्याय-निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
स्पृशंतु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
अवश्याय-तमोनद्धा नीहार-तमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः।
हिमार्द्र बालकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम्॥

जरा-जर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेशरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ।।

(वन की भूमि जिसकी हरी-हरी घास ओस गिरने से कुछ-कुछ नीली हो गई है, तरुण धूप के पडने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूंड़ सिकोड़ लेता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अन्धकार मे सोये से जान पड़ते है। नदियां, जिनका जल कुहरे से ढँका हुआ है और जिनमे सारस पक्षियों का पता केवल उनके शब्द से लगता है, हिम से आई बालू के तटों से ही पहचानी जाती है। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गये है, जिनकी केसर-कणिकाएँ टूट-फूटकर छितरा गई है, पाले से ध्वस्त होकर नाल मात्र खडे हैं।)

मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का इसी रूप में ग्रहण कुमारसम्भव के आरम्भ तथा रघुवंश के बीच-बीच में मिलता है। नाटक यद्यपि मनुष्य ही की भीतरी बाहरी प्रवृत्तियों के प्रदर्शन के लिये लिखे जाते हैं और भवभूति अपने मार्मिक और तीव्र अन्तर्वृत्तिय विधान के लिए ही प्रसिद्ध हैं, पर उनके 'उत्तर 'रामचरित' मे कहीं-कही बाह्य प्रकृति के ही बहुत ही साग और संश्लिष्ट खण्ड-चित्र पाये जाते हैं। पर मनुष्येतर बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मेघदूत मे मिली है, वह संस्कृत के और किसी काव्य में नही। 'पूर्वमेघ' तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत भूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। जो इस स्वरूप के ध्यान में अपने को भूलकर कभी-कभी मग्न हुआ करता है वह घूम-घूमकर वक्तृता दे या न दे, चन्दा इकट्ठा करे या न करे, देशवासियों की आमदनी का ओसत निकाले या न निकाले, सच्चा देश-प्रेमी है। मेघदूत न कल्पना की क्रीड़ा है; न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।

अनन्त रूपो मे प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में, कही भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कही उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का

हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नही, वल्कि चिरसाहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप, मधुप-गुञ्जार, कोकिल-कूजित निकुञ्ज और शीतल सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की चर्चा किया करते हैं; वे विपयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमविन्दु मण्डित मरकताभ शाद्वल-जल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुये जलप्रपात के गम्भीर गर्त्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के वीच विविधवर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिये कुछ पाते हैं, वे तमाशवीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण-असाधारण सव प्रकार के रूपों में रमानेवाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते है। पिछले खेवे के कवियों में मुक्तक-रचना में तो अधिकतर प्राकृतिक वस्तुओं का अलग-अलग उल्लेख मात्र उद्दीपन की दृष्टि से किया गया है। प्रवन्ध-रचना में जो थोडा-वहुत संश्लिष्ट चित्रण किया है वह प्रकृति की विशेप रूप-विभूति को लेकर ही। अंग्रेजी के पिछले कवियों में वर्ड्सवर्थ की दृष्टि सामान्य में चिरपरिचित, सीधे-सादे प्रशान्त और मधुर दृश्यों की ओर रहती थी, पर शेली की असाधारण भव्य और विशाल की ओर।

साहचर्य-सम्भूत रस के प्रभाव से सामान्य सीधे-सादे चिरपरिचित दृश्यों में कितने माधुर्य्य की अनुभूति होती है ! पुराने कवि कालिदास ने वर्षा के प्रथम जल से सिक्त तुरन्त की जोती हुई धरती तथा उसके पास विखरी हुई भोली चितवन वाली ग्रामवनिताओं में साफ-सुथरे ग्रामचैत्यों और कथा-कोविद ग्रामवृद्धों में इसी प्रकार का माधुर्य्य का अनुभव किया था। आज भी इसका अनुभव लोग करते हैं। वाल्य या कौमार अवस्था में जिस पेड़ के नीचे हम अपनी मण्डली के साथ वैठा करते थे; चिड़चिड़ी वुढ़िया की जिस झोपड़ी के पास से होकर हम आते-जाते थे, उसकी मधुर स्मृति हमारी भावना को वरावर लीन किया करती है। वुड्ढी की झोपड़ी में न कोई चमक-दमक थी, न कला-कौशल का वैचित्र्य। मिट्टी की दीवारों पर फूस का छप्पर पड़ा था, नीव के किनारे चढ़ी हुई मिट्टी

पर सत्यानाशी के नीलाभ हरित कँटीले, कटावदार पौधे खड़े थे जिनके पीले फूलों के गोल सम्पुटों के बीच लाल-लाल बिन्दियाँ झलकती थी।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहिचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय भावुक कहे जा सकते हैं। वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं; दोनों पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। हम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोडकर बडे-बडे नगरों मे आ बसे; पर उनके बिना रहा नही जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बन्द करते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिए उनके पास चले जाते है। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नही बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जो के नीचे सुख से सोते है, गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं; बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यावँ म्यावँ करते मांगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेवजी कभी-कभी दीवार फोडकर निकल पड़ते है। बरसात के दिनो में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमे ढूंढ़ती हुई आती है और कहती है कि "तुम हमसे क्यो दूर-दूर भागे फिरते हो ?"

जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूंढ़ा करते है उनमें उस रागात्मक "सत्व" की कमी है जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है। सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परम सत्ता और सम्पूर्ण भाव एक ही परम भाव के अन्तर्भूत है। अतः बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्त्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अन्त में जाकर

दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। समन्वय के विना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं हो सकती।

मार्मिक तथ्य

मनुष्येतर प्रकृति के बीच के रूप-व्यापार कुछ भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। पशु-पक्षियों के सुख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावों की व्यंजना जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है, वह तो प्रायः बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियों को उन पर अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता प्रायः नही होती। तथ्यों का आरोप या सम्भावना अलबत वे कभी-कभी किया करते है। पर इस प्रकार का आरोप कभी-कभी कथन को, 'काव्य' के क्षेत्र से घसीटकर 'सूक्ति' या "सुभाषित" के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, 'कौवे सवेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते है ? वे समझते है कि सूर्य अन्धकार का नाश करता बढ़ा आ रहा है कही धोखे में हमारा भी नाश न कर दे। यह सूक्ति मात्र है, काव्य नही। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या सम्भावित रहते है वहाँ वे अलङ्कार रूप में ही रहते हैं। पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में हो सकते हैं। मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते चले जा रहे है। पशु-पक्षियों का भाग छिनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानो पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। वे कहाँ जाँय ? कुछ तो हमारी गुलामी करते है। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आस-पास रहते हैं और छीन-झपटकर अपना हक ले जाते है। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं, मानों उन्हें जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। इन तथ्यों का सच्चा आभास हमें उनकी परिस्थिति से मिलता है। अतः उनमें से किसी की चेष्टा-विशेष में इन तथ्यों की मार्मिक व्यंजना की प्रतीति काव्यानुभूति के अन्तर्गत होगी। यदि कोई वन्दर हमारे सामने से कोई खाने-पीने की चीज उठा ले जाय और किसी पेड़ के ऊपर बैठा-बैठा हमें घुड़की दे, तो काव्य दृष्टि से हमें

ऐसा मालूम हो सकता है कि--

देते हैं घुड़की यह अर्थ-ओज-भरी हरि
"जीने का हमारा अधिकार क्या न गया रह ?
पर प्रतिषेध के प्रसार बीच तेरे नर !
क्रीड़ामय जीवन-उपाय है हमारा यह।
दानी जो हमारे रहे, वे भी दास तेरे हुए,
उनकी उदारता भी सकता नहीं तू सह।
फूली फली उमंग उपकार की तू
छेंकता है जाता, हम जायँ कहाँ, तू ही कह !'

पेड़-पौधे, लता-गुल्म आदि भी इस प्रकार कुछ भावो या तथ्यो की व्यंजना करते है जो कभी-कभी कुछ गूढ़ होती है। सामान्य दृष्टि भी वर्षा की झडी के पीछे उनके हर्ष और उल्लास को, ग्रीष्म के प्रचण्ड आतप में उनकी शिथिलता और म्लानता को; शिशिर के कठोर शासन मे उनकी दीनता को, मधुकाल में उनके रसोन्माद, उमंग और हास को, प्रबल वात के झकोरो मे उनकी विकलता को; प्रकाश के प्रति उनकी ललक को देख सकती है। इसी प्रकार भावुको के समक्ष वे अपनी रूपचेष्टा आदि द्वारा कुछ मार्मिक तथ्यों की भी व्यजना करते ह। हमारे यहाँ के पुराने अन्योक्तिकारों ने कही-कही इस व्यजना की ओर ध्यान दिया है। कही-कही का मतलब यह है कि बहुत जगह उन्होने अपनी भावना का आरोप किया हैं, उनकी रूपचेष्टा या परिस्थिति से तथ्य-चयन नही। पर उनकी विशेष-विशेष परिस्थितियो की ओर भावुकता से ध्यान देने पर बहुत से मार्मिक तथ्य सामने आते है। कोसो तक फैले, कड़ी धूप मे तपते मैदान के बीच एक अकेला वट-वृक्ष दूर तक छाया फैलाए खड़ा है। हवा के झोको से उनकी टहनियाँ और पत्ते हिल-हिल कर मानो बुला रहे है। हम धूप से व्याकुल होकर उसकी ओर बढते हैं। देखते है, उसकी जड के पास एक गाय बैठी आँख मूँदे जुगाली कर रही है। हम लोग भी उसी के पास आराम से जा बैठते है। इतने में एक कुत्ता जीभ बाहर निकाले हाँफता हुआ उस छाया के नीचे आता है और हममे से कोई उठकर उसे छडी लेकर भगाने लगता है। इस परिस्थिति को देख हममें

से कोई भावुक पुरुष उस पेड़ को इस प्रकार सम्बोधन करे तो कर सकता है—

काया की न छाया यह केवल तुम्हारी, द्रुम।
अंतस् के मर्म का प्रकाश यह छाया है।
भरी है इसी में वह स्वर्ग-स्वप्न-धरा अभी,
जिसमें न पूरा-पूरा नर वह पाया है।
शांतिसार शीतल प्रसार यह छाया धन्य !
प्रीति सा पसारे इसे कैसी हरी काया है।
हे नर ! तू प्यारा इस तरु का स्वरूप देख,
देख फिर घोर रूप तूने जो कमाया है॥

ऊपर नरक्षेत्र और मनुष्येतर सजीव सृष्टि के क्षेत्र का उल्लेख हुआ है। काव्यदृष्टि कभी तो इन पर अलग-अलग रहती है कभी समष्टि-रूप में समस्त जीवन-क्षेत्र पर। कहने की आवश्यकता नहीं कि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि-दृष्टि मे अधिक व्यापकता और गम्भीरता रहती है। काव्य का अनुशीलन करनेवाले मात्र जानते हैं कि काव्य-दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती। वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है। भूमि, पर्वत, चट्टान, नाले, टीले, मैदान, समुद्र, आकाश, मेघ, नक्षत्र इत्यादि की रूप-गति आदि से भी हम सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता, भव्यता, विचित्रता, उदासी, उदारता, सम्पन्नता इत्यादि की भावना प्राप्त करते है। कड़कड़ाती धूप के पीछे उमडी हुई घटा की श्यामल स्निग्धता और शीतलता का अनुभव मनुष्य क्या पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तक करते हैं। अपने इधर-उधर हरी-भरी लहलहाती प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा मे हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों मे विशालता और भव्यता का, वात-विलोड़ित जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का, विकीर्णघन-खण्ड-मण्डित, रश्मि-रञ्जित सान्ध्य-दिगञ्चल में चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचण्ड झोंकों में उग्रता और उच्छृङ्खलता का, बिजली की कँपाने

वाली दाह और ज्वालामुखी के प्रचण्ड स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है। ये सब विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके द्रष्टा मात्र होते हैं।

जड़ जगत् के भीतर पाये जानेवाले रूप, व्यापार या परिस्थितियाँ अपने मार्मिक तथ्यों की भी व्यंजना करती हैं। जीवन के तथ्यों के साथ उनके साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्घाटन कहीं-कहीं हमारे यहाँ के अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे, इधर नरलोक के बीच देखते हैं तो सुख-समृद्धि और सम्पन्नता की दशा में दिन-रात घेरे रहनेवाले, स्तुति का खासा कोलाहल खड़ा करनेवाले, विपत्ति और दुर्दिन में पास नहीं फटकते; उधर जड़ जगत् के भीतर देखते हैं तो भरे हुए सरोवर के किनारे जो पक्षी बराबर कलरव करते रहते हैं, वे उसके सूखने पर अपना-अपना रास्ता लेते हैं :

कोलाहल सुनि खगन के, सरवर ! जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा, दुर्दिन दैहैं त्यागि॥
दुर्दिन दैहैं त्याग, तोय तेरो जब जैहै।
दूरहि तें तजि आस, पास कोऊ नहिं ऐहै॥

इसी प्रकार सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टिवालों को और गूढ़ व्यजना भी मिल सकती है। अपने इधर-उधर हरियाली और प्रफुल्लता का विधान करने के लिए यह आवश्यक है कि नदी कुछ काल तक एक बँधी हुई मर्यादा के भीतर बहती रहे। वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृङ्खलता मे पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृङ्खलता और ध्वंस अल्पकालिक होता है और इसके द्वारा आगे के लिए पोषण की नई शक्ति का सञ्चय होता है। उच्छृङ्खलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है। लोकजीवन की धारा जब एक बँधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति से चलने पाती है तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके भीतर सुख-शान्ति की प्रतिष्ठा होती है। जब

जीवन-प्रवाह क्षीण और शाक्त पड़ने लगता है और गहरी विपमता आने लगती है तव नई शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसमें वेग की उच्छृङ्खलता के सामने वहुत कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृङ्खल वेग जीवन का या जगत् का नित्य स्वरूप नही है।

३. पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर वद्ध रहनेवाली काव्य-दृष्टि की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करनेवाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गम्भीर कही जायगी। जव कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनन्त व्यक्त सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते है तव हमारी पार्थक्य-वुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च भूमि पर पहुँचा रहता है जहाँ उसकी वृत्ति प्रशांत और गम्भीर हो जाती है, उसकी अनुभूति का विपय ही कुछ वदल जाता है।

तथ्य चाहे नरक्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलम्वन कहना चाहिये। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती है। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों में सञ्चार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरम्भ में मनुष्य की चेतन सत्ता अधिकतर इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही रही। फिर ज्यों-ज्यों अन्तःकरण का विकास होता गया और सभ्यता वढ़ती गई त्यों-त्यों मनुष्य का ज्ञान वुद्धि-व्यवसायात्मक होता गया। अव मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र वुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर वहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी वढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्वन हो सके—कवियों का काम और उच्च काव्य का एक

लक्षण होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तथ्यों और परिस्थितियों के मार्मिक रूप न जाने कितनी बातों को तह में छिपे होंगे।

काव्य और व्यवहार

भावों या मनोविकारों के विवेचन में हम कह चुके हैं कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करनेवाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्क-बुद्धि या विवेचना के बल से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। जहाँ जटिल बुद्धि-व्यापार के अंदर किसी कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है वहाँ भी तह में कोई भाव या वासना छिपी रहती है। चाणक्य जिस समय अपनी नीति की सफलता के लिए किसी निष्ठुर व्यापार में प्रवृत्त दिखाई पड़ता है उस समय वह दया, करुणा आदि सब मनोविकारों या भावों से परे दिखाई पड़ता है। पर थोड़ा अन्तर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचानेवाली डोर का छोर भी अन्तःकरण के रागात्मक खण्ड की ओर मिलेगा। प्रतिज्ञा-पूर्ति की आनन्द भावना और नन्दवंश के प्रति क्रोध या वैर की वासना बारी-बारी से उन डोर को हिलाती हुई मिलेंगी। अर्वाचीन राष्ट्र-नीति के गुरु-घण्टाल जिस समय अपनी किसी गहरी चाल से किसी देश की निरपराध जनता का सर्वनाश करते हैं, उस समय वे दया आदि दुर्बलताओं से निर्लिप्त, केवल बुद्धि के कठपुतले दिखाई पड़ते हैं। पर उनके भीतर यदि छानबीन की जाय तो कभी अपने देशवासियों के सुख की उत्कण्ठा, कभी अन्य जाति के प्रति घोर विद्वेष, कभी अपनी जातीय श्रेष्ठता का नया या पुराना घमण्ड, इशारे करता हुआ मिलेगा।

बात यह है कि केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम को करने या न करने के लिए तैयार नही होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक ! जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारी भावना में आती है जो आह्लाद, क्रोध, करुणा, भय, उत्कंठा आदि का सचार कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए उद्यत होते है। शुद्ध-ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नही होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिये मन मे कुछ वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जन-समुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना

रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है तो सम्भव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्रय और अकाल का भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुये कङ्काल कल्पना के सम्मुख रखे जायँ और भूख से तड़पते हुये बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्त-क्रन्दन सुनाया जाय तो वहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नही तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का। अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

उक्त धारणा का आधार यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जो भावुक या सहृदय होते हैं अथवा काव्य के अनुशीलन से जिनके भाव-प्रसार का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, उनकी वृत्तियाँ उतनी स्वार्थवद्ध नही रह सकतीं। कभी-कभी वे दूसरों का जी दुखाने के डर से; आत्मगौरव या कुलगौरव या जातिगौरव के ध्यान से; अथवा जीवन के किसी पक्ष की उत्कर्ष-भावना में मग्न होकर अपने लाभ के कर्म में अतत्पर या उससे विरत देखे जाते है। अतः अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्यं साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियों के अमले और मुख्तार ऐसों को कार्य-भ्रंशकारी, मूर्ख, निरे निठल्ले या खब्त-उल-हवास समझ सकते हैं। जिनकी भावना किसी बात के मार्मिक पक्ष का चित्रानुभव करने में तत्पर रहती है, जिनके भाव चराचर के बीच किसी को भी आलम्बनोपयुक्त रूप या दशा में पाते ही उसकी ओर दौड़ पड़ते है, वे सदा अपने लाभ के ध्यान से या स्वार्थ बुद्धि द्वारा ही परिचालित नही होते। उसकी यही विशेषता अर्थपरायणों को—अपने काम से काम रखनेवालों को—एक त्रुटि-सी जान पड़ती है। कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों, यह बात नही है। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नही होता।

अपने स्वार्थ के लिए रौंदता है, इससे सभी परिचित हैं। राह में एक मरा चीतल, एक विशाल वड़ के पेड़ की छाया मे पड़ा था और चीलें तथा काले पंखों वाले भयानक गिद्ध चारों ओर चक्कर काट कर उस पर झपट रहे थे। लोमड़ियाँ और जंगली कुत्ते भी अवसर पाकर वीच-वीच में उसे नोच लेते थे।

ड्राइवर ने हमें वताया था कि रात को चीते ने उस जानवर का शिकार किया होगा तथा पेट भरने के बाद झाड़ियों में इसे छुपा गया होगा। जगल में सब आजाद हैं। लोमड़ियों ने उसकी गन्ध पाकर झाड़ियों के वीच से हटाकर यहाँ डाल दिया और सब अपना-अपना हिस्सा वाँट रहे थे। चीते को गंध का ज्ञान नहीं होता है। वह अपनी शक्ति के वल पर शिकार करता है और निर्वल लोमड़ियाँ गंध के ज्ञान के कारण ही तो अपना भोजन पाती हैं। जब कि हम एक सँकरे रास्ते से गुजर रहे थे, जिसके दोनो ओर बाँस के वड़े-बड़े जंगल थे तो हिरनों का एक गिरोह हमारी कार के आगे से चौकड़ी भरता हुआ निकल गया था। ड्राइवर ने कार धीमी न कर दी होती, तो वह जरूर किसी जानवर से टकरा गयी होती। जंगली मुरगियाँ तथा और पक्षी स्वच्छन्दता से उड़ रहे थे। मानों कि वे निर्भय हों। एक वड़ा हरे से रंग का मटमैला साँप तो कार के पहिये से चिपका हुआ वड़ी दूर तक चला आया था। यह सब देख कर सोचा कि आदि-मानव को कितना संघर्ष करना पड़ा होगा! आज तो वह अपनी वुद्धि पर अधिक भरोसा न करके आपस ही मे एक दूसरे का शोषण करना सीख गया है। शासन करने की उसकी लिप्सा वढ़ गयी है।

खानसामा ने वाहर वरामदे में-कुरसियाँ डाल दी थी और हमारे नौकर ने सामान कमरों में लगा दिया था। इस डाक वंगले में गरमियों में वहुत कम अफसर टिकते हैं। अधिकतर शिकारी व अधिकारी जाड़ों में शिकार खेलने के लिए आते हैं। चौकीदार ही खानसामा का काम करता है और वह साहव लोगों की रुचि के कुछ सामान भी रखता है। भंगी को भी सरकारी वेतन मिलता है और वह मुरगियों का बाड़ा रखता है। साहव लोग ईनाम दे जाया करते है और उनकी आर्थिक स्थिति वुरी नहीं है। ये लोग सभी

मौसमो में वहा रहते हैं और जंगली जानवरों से कोई भय इन को नही रहता है। चौकीदार की अवस्था लगभग साठ साल की होगी। अब तो वह सब काम नही करता है। उसका लड़का, चार साल हुए फौज से छूट कर आया है और वही सब काम करता है। अफसरो ने वादा किया है कि उसे वे शीघ्र ही पक्का कर देंगे व बूढे की पेंशन भी चालू हो जायगी।

हवा बिलकुल बन्द-सी थी और बड़ी उमस हो रही थी। लगता था कि उस गरमी मे हम पिघल जायेंगे। वह बूढ़ा ताड़ के एक पुराने पंखे से हवा करने का निरर्थक-सा प्रयास करने लगा। गरमी से परेशान होकर मैं गुसलखाने पहुँचा और गरम-से पानी मे नहा कर बाहर आया। बिस्कुट का एक टुकड़ा दांतों मे दबा कर चबाया और चाय के दो प्याले पी गया। मेरा साथी ठेकेदारो तथा और सरकारी अधिकारियो से बातें कर रहा था। सरकार अपनी नयी योजना के अन्तर्गत यहाँ की धरती पर फौज से छूट कर आए हुए लोगों की बस्ती बसाना चाहती थी। पेड़ो को बड़ी-बड़ी मशीनों से उखाड़ कर, फिर उस धरती के हृदय को ट्रैक्टर से चीर कर उसकी कल्पना एक नयी दुनिया बसाने की थी। यह कल्पना पाँच साल तक दिल्ली के लाल-फीतो वाली फाइल से निकल कर, फिर दो साल तक लखनऊ की फाइलो से उड़ कर अब यहा पहुँच सकी थी।

साँझ हो आयी थी और मैं बरामदे मे खड़ा हो कर सामने दूर तक फैले हुए विशाल जंगल की ओर देख रहा था। वह स्वस्थ और सबल जंगल जाने क्यों मन में एक अज्ञेय-सा बल प्रदान करने लगा। गरमी अभी भी उसी भाँति पड़ रही थी और मन बेचैन-सा था। मै अनमना सा बाहर आकर टहलने लगा। इस स्थान का यह मेरा पहला ही अनुभव था। अब कुछ रात-सी पड़ने लगी थी। तभी पाया मैने कि दक्षिण की ओर से एक भारी-सी आवाज़ आयी और वह लगातार समीप-सी सुनाई पड़ रही थी। मै चौंक-सा उठा कि क्या बात होगी और उधर बढ़ा; पर आगे धुधले मे कुछ भी साफ-साफ नही दीख पड़ा। फिर वह आवाज़ तो जंगल की ओर से लगातार प्रतिध्वनित हो रही थी। उसका वेग कम नही हो रहा था। इसके पहले

कि सवाल करूँ, चौकीदार ने बताया कि भौंतू चल रहा है। उस प्रदेश की वह भाषा मेरी समझ में नहीं आयी। यह तो बता चुका था कि सामने जो नदी बह रही है, उसमें बहुधा संध्या को इसी प्रकार तेज आँधी चला करती है। उस आँधी की आवाज को सुन कर लगता था कि पुराने जमाने की कोई बहुत बड़ी सेना इधर से गुजर रही है। फिर भी वह भौंतू का चलना एक कौतूहल की बात थी।

नदी की ओर जाने का प्रयास करना उस समय ठीक नहीं लगा। सुबह वहाँ जाने का निश्चय करके मैं लौट आया। सामने जंगल से किसी जानवर की, तो कहीं किसी पक्षी की तेज भयावनी चीख कानों में पड़ती थी। दोस्त ने बताया था कि इस जगंल में इस समय एक चीता मादा अपने बच्चे के साथ रहती है। वहाँ का एक निवासी तो बता रहा था कि इस समय जितने जानवर वहाँ हैं, साहब चाहे तो कल वह उनको अच्छा शिकार करवा सकता है। वह नौजवान लड़का सारी बातों का वर्णन करते हुए उत्तेजित हो उठा था। उसने तो यह भी बताया था कि चार-पाँच रोज पहले, जब कि वह जंगल में भैंसें चराकर लौट रहा था, तब उसने उस चीते को अपने बच्चे के साथ नदी के पास वाली खादिर मे देखा था। उसका विश्वास था कि वह वहीं पर बाँस की घनी झाड़ियों के बीच रहती है। वहाँ पर नदी के कारण नमी रहती है, पानी भी उसके समीप है।

उस निर्भीक सत्रह-अठारह साल के लड़के की बातों को सुनकर कौतूहल हुआ था। वह तो स्वयं एक बार चीते के पंजों के पीछे-पीछे वहाँ तक गया था और उसने पाया था उस समय वह वहाँ लेटी हुई थी। यदि वह उस पर हमला करती, तो क्या होता ? यह बात उसने न तब सोची और आगे भविष्य में भी ऐसा अवसर आयेगा, तो भी वह वही सोच सकेगा। कारण कि रोजाना जीवन में जंगल के जानवरों से भेंट होती ही रहती है और मौका पड़ने पर तत्काल मोर्चा भी उस स्थिति के अनुसार सोचा जा सकता है। और लोगों ने भी शिकार के लिए निमंत्रण दिये। दोस्त एक बड़े ओहदे पर नियुक्त होकर वहाँ की जाँच व प्रारंभिक कार्य की रूपरेखा

निश्चित करने के लिये आये थे; अतएव हर एक ठेकेदार चाहता था कि उनको खुश करके कृपा का पात्र बन जाय।

रात को हम खाना खा रहे थे। हम सब मिलकर सात व्यक्ति थे। पास की नदी से पकड़ी हुई मछलियां तथा जंगल से पकड़कर लायी गयी मुर्गियों का गोश्त था। इसके अतिरिक्त ठेकेदार समाज की अपने उपयोग के लिए लायी हुई विलायती शराब की बोतलें थी। खाने में काफी गम्मत रही और दो-तीन ठेकेदारों की हालत तो यह थी कि वे बिल्कुल बेहोश होने पर भी पेग पर पेग चढा रहे थे कि कोई यह समझ न बैठे कि वे पीने में कमजोर हैं। मैं जंगली मुरगी की हड्डियाँ चबा रहा था। मछली का शोरबा भी मैं काफी पी गया। तभी मैंने एकाएक अपने साथी से पूछा कि यह भौतू नदी में क्या चला करता है। मेरी उस अज्ञानता पर सब-के-सब अवाक् मुझे देखते रह गये। दोस्त ने बताया कि आज के पहले सुलतान भौंतू की फौज इसी तेजी से जंगल पार किया करती थी। सालों तक उसने हमारी सरकार को नाकों चने चबवाये थे। मीलों तक फैले हुए इस तराई भाबर में उसका राज्य था।

'सुलताना भौंतू' एकाएक मेरे मुँह से छूट पड़ा।

उस वातावरण मे मेरे शब्द छुप गये। उस व्यक्ति की बात बहुत पुरानी हो गयी। वह एक साधारण डाकू था, जिसे कि किसी अंग्रेज पुलिस अधिकारी ने पकड़ा था और कानून में उसे फाँसी की सजा दी थी।

: दो :

नौ बज गये थे। और सब लोगों को विदा करके मेरा साथी मेरे पलंग के पास आराम कुर्सी पर बैठ गया। मुझे नींद नहीं आ रही थी। उसने मुझसे पूछा—"सुलताना के बारे में जानना चाहते हो?"

"सुलताना के?" मैने आश्चर्य में दोहराया।

"हाँ, बूढा गोबरसिंह उसे भली-भाँति जानता था और जब जवान था, तो उसके तूफानी हमलों में कई बार शरीक हुआ था।"

गोबरसिंह, वह बूढा खानसामा सुलताना के साथ रह चुका है, जान

कर मुझे बड़ी खुशी हुई। दोस्त ने बताया कि शुरू-शुरू में तो वह रोज संध्या समय नदी के किनारे चलती हवा को सावधानी से सुना करता था। उसकी धारणा थी कि सुलताना मरा नहीं है। इस दुनिया में कोई उसे मार नहीं सकता। उसे लोगों ने बताया था सुलताना को सरेबाजार सिपाहियों से घिरा कचहरी जाते हुए देख चुके है। उसके पाँव में बड़ी-बड़ी बेड़ियाँ व हाँथों में हथकड़ी पड़ी रहती हैं।

और वह बूढ़ा गोबरसिंह तो हँस पड़ा था। हँसते-हँसते उसकी आँखों से आँसू की धारा वह निकली और फिर उसकी सिसकियाँ बँध गयीं। मैं समझा कि वह पागल हो गया है। दोस्तों ने शराब का एक पैग उसे दिया और अब तो नशे मे उसकी आँखें चमक उठी थी। उसने बाहर जाकर दो-तीन बार थूका और फिर जोर से बोला—"नमकहराम, जो कि कभी डर से सुल्ताना के आगे नहीं पड़ते थे और उसका नाम सुनते ही जिन-को कँपकँपी आने लगती थी, उनकी हिम्मत पड़ी कि वे सुलताना को बेड़ियाँ पहनावें।"

गोबरसिंह अब भीतर पहुँचा और कहने लगा—"सरकार, वह देवता था। मेरा वास्ता पहले-पहल तब उससे पड़ा, जबकि मैं रुपये न होने के कारण अपने पुरखों की जमीन का पट्टा साहूकार के नाम लिख आया था। वह खानदानी कर्जा कई पुश्त से नहीं दिया जा सका तथा और उसको चुकाने का सामर्थ्य मुझमें नहीं था। साहूकार से हमेशा किसी-न-किसी काम के लिए कर्ज निकालना पड़ता है। उससे झगड़ा करके गाँव में कोई नहीं रह सकता है।

"पुरखों की जायदाद को कर्ज में चुका कर मैं फुर्ती से घर लौट रहा था कि जंगल की राह पर मुझे एक नौजवान मिला। उसने मुझसे शहर का समाचार पूछा। वह न जाने कैसे जान गया कि मैं बहुत दुखी हूँ। फिर मेरी सारी बातें सुनकर उसने अपने कमर से एक थैली निकाल कर मुझे दी और कहा कि साहूकार के यहाँ जाकर अपना पट्टा वापस ले लूँ: पर इसमे पहले कि मैं उसे धन्यवाद दूँ, वह चला गया था। साहूकार ने रुपया लेकर कहा था कि वह चोरी का माल है, जो कि उसे भौंतु ने दिया है। उसने

धमकी भी दी थी कि वह उसे पुलिस में दे आया। तभी मुझे ज्ञात हुआ था कि वह कौन व्यक्ति है। इस जगह के किसान साहूकार घबराते थे, तो यह ठीक ही था। उसमें इतने मुझे प्यार हो गया था। उस सरल व्यक्ति ने मुझे मोह लिया था। यही कारण था कि गरीब जनता उसे प्यार करती थी। हर एक अपनी जान की बाजी लगाकर भी उसकी रक्षा करना चाहता था। गरीब लोगों का वह मसीहा था। जहाँ भी कोई मुसीबतज़दा दिखाई पड़ता, वह वहाँ पहुँच कर उसकी मदद करता था। कभी उसने बे-कसूर को नहीं सताया था। सरकारी वेतन पानेवाले पुलिस के जासूस कभी भी जनता के हृदय को नहीं टटोल सकते थे। और सुलताना तो उसी जनता के हृदय में छुपा रहता था। हर एक उसे आश्रय देना अपना गौरव समझता था।

"मैं भी तीन साल से उसके साथ रहा। उसे सभी जगहों की पूरी-पूरी जानकारी थी। उसका प्यारा कुत्ता सदा उसके साथ रहता था। जंगली पशु भी शायद उस सहृदय व्यक्ति को पहचान गये थे। वह जानता था कि एक अँगरेज़ अधिकारी उसे पकड़ने के लिए तैनात किया गया है। लेकिन कभी उसने उसकी हत्या करने की नहीं ठहराई। वह तो एक बार उस पुलिस के ही अफसर से निहत्था ही मिला था और उसे एक तरबूज भेंट करके कहा था कि वे बेकार एक डाकू के पीछे अपनी जान जोखिम में डालते है। उसने सावधान किया था कि सुलताना अपने दुश्मन को भी धोखे से नही मारता और न पीछे से हमला करता है। यह भी जानता है कि वे अपने परिवार से दूर यहाँ नौकरी के लिए आये है। उनकी उनसे कोई लड़ाई नही है। साहब ने समझौते की बात चलाते हुए कहा था कि वह बिना किसी शर्त के यदि सरकार की शरण मे आ जाये, तो सरकार उसकी माफी पर विचार करेगी। इस पर वह हँसा था कि एक सिपाही माफी कभी नही मागता। वह तो केवल हार या जीत ही जानता है।

"बदमाशों के लिए सुलताना का नाम परेशानी पैदा करता था। उसकी आँखों में कभी कोई अपराध छुपा नही रहता था। मानो सोना लूटनेवाला सुलताना सब कुछ गरीबो को बाँट देता था। उसके हाथ

सदा खाली रहते थे । वह कभी शराब नहीं पीता था। एक बार उसके दल के कुछ साथियों ने एक बारात लूटी थी। एक मनचला नववधू को भी पकड़कर ले आया था। सुलताना ने जब सुना, तो उस युवती को स्वयं उसके पिता को सौंप कर माफी माँगी थी। उस युवती की बहन की विदाई में सोने के गहने भी दिये थे।

"सरकार ने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। जिस गाँव पर भी उसे आश्रय देने का शक होता, वहाँ पुलिसवाले पहुँच कर मनमाना अत्याचार करते थे। सैकड़ों निरपराध युवकों को पुलिस पकड़ कर ले जाती कि वे उसकी सहायता करते हैं। गाँवों को इस प्रकार लूटने का हाल सुन कर उस का हृदय काँप उठता था। इसीलिए एक दिन उसने अपने चुने हुए साथियों के अलावा सब को विदा कर दिया था। वे उसे नहीं छोड़ना चाहते थे; पर उसकी आज्ञा का उल्लघंन करने की शक्ति किसी में न थी। विदाई के दिन वह बहुत दुःखी था; पर बेबसी में क्या करता।"

गोवर्धसिंह उस के बाद का समाचार इतना ही जानता था कि सुलताना को फाँसी लगी थी। उसको पूरा विश्वास था कि सुलताना चाहता तो कोई शक्ति उसे पकड़ नहीं सकती थी। वहाँ की सारी जनता का वह प्यारा बेटा किसी की पकड़ में न आता। यह उस देश के कलंक की बात होती। सुलताना एक दिन इसलिए अपने साथियों के साथ युद्ध करता हुआ पकड़ा गया था। वह बहादुर सिपाही था, इसलिए उसने आत्महत्या स्वीकार की। तो वह दिखा देना चाहता था कि अंग्रेज की कचहरी वाला न्याय कितना झूठा है।

सुलताना अपने प्यारे कुत्ते को उस अंग्रेज अफसर की संरक्षता में सौंप गया था, जिसने कि उसे पकड़ा था। इन जंगलों में रहकर उसने मानव हृदय पाया था। दुनिया में इतने सहृदय व्यक्ति शायद कम पैदा होते हैं। पुलिस विभाग में सैकड़ों फाइलें मिलेंगी, जिन में कि पेशेवर पुलिस के अधिकारियों की झूठी रिपोर्टें होंगी। न्यायालय की फाइलों में—जहाँ कि इंग्लैंड के

बड़े घरानों के बच्चे को जब बताया जाता था—वहाँ उपनिवेश के इस नागरिक को खूनी और बदमाश बताया गया होगा; लेकिन उसकी कहानी तो यहाँ का बच्चा-बच्चा जानता है। हर एक चाहता है कि उसका बच्चा वैसे ही नेक, सहृदय, चरित्रवाला और बहादुर बने। वह उस धरती का बेटा था, जिसका शोषण करने के लिए अंग्रेज आया था। तराई का चप्पा-चप्पा आज भी उसकी जीवन की घटनाओं की गूँजों से भरा हुआ है।

भोंतू चल रहा है, यह सुनकर मेरे मन में कम कौतूहल नहीं हुआ था। वह गति कैसी स्वस्थ थी। वह घूम चला गया था और सोने के पहले दोस्त ने पूछा—"जानते हो, वह यंग कहाँ है?"

"यंग? वह पुलिस का सिविलियन-अधिकारी, जिसने भोंतू को गिरफ्तार किया था।"

"वह आजकल मलाया में—विद्रोहियों को दबाने में—मोरचाबन्दी कर रहा है। मलाया की जनता को कुचलने का प्रयास।"

: तीन :

और अगले दिन मैं शाम को कार से रेलवे स्टेशन पर पहुँच गया था। दोस्त ने मुझे विदाई दी। शाम का वक्त था। सूर्य की लाली पश्चिम में फैल रही थी। गाड़ी तेजी से चल रही थी। सामने एक पुराने क़िले के अवशेष दिखलाई पड़े। पूछने पर सहयात्री ने बताया कि इसी किले मे जरायम पेशे वाले लोगो को सरकार रखती थी और सुलताना का बचपन इसी में कटा था। यही से भाग कर वह स्वतन्त्र हुआ था।

वह किला पीछे छूट गया और सोचा मैने कि यदि उस व्यति को अवसर मिला होता...।

लेकिन डाक बँगले के पास बहती नदी तो सदा बहती रहेगी और गरमियों की सध्या में सदा ही वहाँ भौतू चलेगा....!

●

मिस्टर पिल्ले

लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी

दूर से उनकी गञ्जी खोपड़ी पीतल के स्वच्छ कटोरे की तरह चमकती प्रतीत होती। कानों के ऊपर दोनों ओर बाल हैं। क़द छोटा, ठिगना। आवश्यकता से अधिक स्थूल शरीर। कभी-कभी कुर्सी पर बैठने के पश्चात् जब उठ कर खड़े होते हैं, तब कमर के दोनों कूल कुर्सी के हत्थो के बीच ऐसे फँस जाते है कि कुर्सी भी उन्ही के साथ उठ खड़ी होने का उपक्रम करने की हठधर्मी करती है। दाँत स्वच्छ मोती की तरह चमकदार, किन्तु सामने के दो गायब। सिगरेट के बजाय सिगार खुले दाँतों के रिक्त स्थान की अच्छी पूर्ति करता है। आँखों पर चश्मा है, पुरानी चाल का, परन्तु जब वे निकट किसी से बातें करते हैं, तो शीशे के बीच में न देख उसके ऊपर से आँख चढ़ा कर देखते है। ओंठ मोटे और भद्दे, जो तलवार छाप मूछों की शोभा को प्रसारित करने में भयंकर बाधा उपस्थित करते हैं। यह है, मिस्टर पिल्ले ?

परिचय ?—परिचय भी इसी प्रकार हुआ। मैं राशन ऑफिस कार्ड बनवाने गया था। एक बाबू ने कहा—'पिल्ले साहब बनायेंगे। आते ही होंगे, समय हो चुका।'

मैंने सोचा, कल आकर बनवा लूंगा और चलने को हुआ कि चपरासी ने कहा—'आ गये पिल्ले साहब, आज बहुत देर कर दी, साहब ने।'

चपरासी के निकट आकर बोले—'क्यों ? ठीक ठाक तो ?

'जी, लोग आप का इन्तजार कर रहे हैं, कुछ बेचारे तो लौट भी गये।

'जो गये जाने दो, उनकी चिन्ता क्या ? है कौन यहाँ अब ?'

चपरासी ने मेरी ओर संकेत कर कहा—'आप भी बस लौटे ही जा रहे थे।'

'अच्छा ठीक, आप ! नहीं, नहीं, वक्त में आ गया हूँ। खाली हाथ जाएगा ! बैठो। अभी कार्ड बनाता हूँ।' मिस्टर पिल्ले ने बड़ी विनम्रता से मुझसे कहा। फिर इसके बाद चपरासी से कहा—'देखो, जरा इनको तो एक कागज दे दो।'

'हुजूर मेरे पास......'

'अरे तुझे कौन कहता है ! किसी बाबू से ले कर...'

'चपरासी खाली हाथ लौट आया, बोला—'साहब...'

तब मिस्टर पिल्ले ने मेरी ओर देखा।

मुझे कार्ड बनवाना था। ऐसा न करने से बाधा भी उपस्थित हो सकती थी। मैं तपाक से बोला—'हाँ साहब मैं दिये देता हूँ, यह लीजिये।'

मेरे हृदय में जैसे किसी ने पिन चुभो दी हो; लेकिन पिल्ले साहब ने तुरन्त चपरासी से कहा—'सभी कंगाल तो नहीं हैं यहाँ ! जा तांगे वाले को ......'

चपरासी चला गया और लगभग एक घण्टे में मेरा कार्ड भी बन कर तैयार हो गया। मिस्टर पिल्ले उसी समय से मेरे अन्तरंग मित्र ही नहीं बने, बल्कि अध्ययन की पुस्तक भी।

मिस्टर पिल्ले ने कई बार आग्रह करते हुए कहा था—'किसी दिन मेरे बँगले पर भी तशरीफ लाइए।'

मैं टालता जा रहा था; क्योंकि मेरे और उन के संस्कारों में बड़ी भिन्नता थी। उनकी स्वीकृति मेरे निकट अस्वीकृति थी और उनकी अस्वीकृति मेरे लिए स्वीकृति थी।

एक दिन मेरे जी मे आया चल कर मिस्टर पिल्ले का दर्शन करूँ, और मिस्टर पिल्ले के बँगले को खोजता उस हाते मे जा पहुँचा, जहाँ का उन्होने हवाला दिया था। एक बच्चे से मैंने पूछा—'यहाँ पिल्ले साहब भी रहते है ?'

'कौन वे पादरी साहब ? वह, वहाँ जाइये ।' लड़के ने एक दिशा की ओर संकेत कर दिया ।

मैं विचार करने लगा—ये तो मद्रासी हैं, किन्तु पादरी कैसे और कब हो गये ?

मैं सामने जा खड़ा हुआ । देखा—निहायत गन्दी कोठरी, बहुत तंग, दिन में मच्छरों की भनभनाहट, कोठरी के सामने कूड़े का ढेर । चारों ओर की छोटी-छोटी कोठरियों में हरिजन, कोरी और चटाई बनाने वाले रहते हैं । हाते के धुएँ ने सूर्य की रोशनी को मंद-सा कर दिया है । और उस कोठरी में दो स्त्रियाँ लड़ रही हैं । लड़ाई मद्रासी भाषा में हो रही थी, जो निश्चय ही ध्यान से सुनने की उत्सुकता पैदा कर रही थी। आपस के कुछ अनपढ़ उस वाक्-युद्ध का आनन्द ले रहे थे । और कभी-कभी बीच में व्यंग्य से मुस्कराते भी थे ।

ये दोनों मिस्टर पिल्ले की ही पत्नियाँ हैं, यह रहस्य मुझे उसी दिन, उसी छण मालूम हुआ ।

मैं भी सुनता रहा । जो कुछ भी समझ में आया, वह यह कि झगड़ा रोटियों को लेकर हो रहा है । मिस्टर पिल्ले की स्थिति गम्भीर है । आज उनकी जेब कतई खाली है । यदि डबल रोटी की व्यवस्था हो जाती; तो मामला सम्हल जाता; किन्तु मिस्टर पिल्ले मजबूर हैं । इतना होने पर भी एक अन्याय और भी कर रहे हैं । वे पक्ष लेते हैं, अपनी उस पत्नी का जो भोंडी और स्थूलकाय है ।

मैं खड़ा-खड़ा ऊब रहा था कि पिल्ले साहब की दृष्टि मुझ पर पड़ी । वे झट बाहर निकल आये बोले—'मूर्ख हैं, ये देहाती ।'

मैंने कहा—'बात सच है; लेकिन यह सँभालिए पाँच का नोट और फिलहाल जिन वस्तुओं को लेकर झगड़ा हो रहा है, जिनकी कमी है, उन्हें मँगा लीजिए ।'

उन्होंने शीघ्र ही—सधन्यवाद—नोट ले लिया और उसे उन दोनों के बीच में फेंकते हुए कहा—'यह लो, किन्तु अब चुप रहो ।'

[illegible]

…जी नहीं, जी नहीं यह विश्वास, कभी उधार लाया था, अब देखा नहीं है। पचीसों बार आ चुका है, लेकिन आना व्यर्थ कर देता है। आज ही,

देखिये न, आंख में धूल डाल कैसे चम्पत हुआ है ? अच्छा, अब बच्चू से निपट ही लूंगा ।

मिस्टर पिल्ले के क्रिया-कलाप मुझे विचित्र से लगे । मुसकराकर घर की ओर चल पड़ा ।

दूसरे ही दिन, सचमुच ही मिस्टर पिल्ले हास्पिटल में दाखिल कर दिये गये थे, जो एक ओर 'स्प्रिंगदार बेड' पर लेटे चोटों का आनन्द ले रहे थे ।

समाचार मिलने पर मैं उन्हें देखने हास्पिटल जा पहुँचा । देखा—उन की एक टाँग और एक हाथ ऊपर उठाकर बाँध दिया गया है ।

सहानुभूति के स्वर से पूछा—'यह सब क्या मिस्टर पिल्ले ?'

'हाथ पैर झूला झूल रहे है; कोई विशेष बात नही ।'

'आखिर यह सब हुआ कैसे ? कहीं झगड़ा फिसाद .... ?'

'कतई नहीं । मेरी किसी से दुश्मनी ही क्यों होने लगी ? मैंने किसी का बिगाड़ा ही क्या है ?—यह सब मोटर-दुर्घटना का परिणाम है ।'

मैं ठहाका मार कर हँस पड़ा । मिस्टर पिल्ले ने पूछा—'आखिर हँसी कैसे आयी ?'

'साहस कर' मैंने उत्तर दिया ।

'चिन्ता क्या ? दो दिन में जैण्ट होकर फिर आता हूँ, मिस्टर बाच्चू ! यह सब चलता रहता है ।' कह कर उन्होंने मुझे सर हिला कर वहाँ से चले जाने की आज्ञा दे दी ।

ज्यों ही हास्पिटल के बाहर आया, त्योंही फिर ठहाका लगा कर हँस पड़ा— अपने प्रभु के गुणगान के उपलक्ष्य में ।

० ० ०

उस दिन मेरे यहाँ अनेक अतिथि आ गये थे । राशन की कमी देखकर अनायास ही पिल्ले साहब का स्मरण हो आया । सोचा मैंने—अब उन्हीं की शरण लेनी चाहिए ।

सन्ध्या का समय उनके बँगले पर जा पहुँचा । देखा मिस्टर पिल्ले

नहीं हैं। उनकी एक पत्नी बाहर निकली और बोली—'आप मेरे पतिदेव को चाहते हैं?'

मैंने मुसकरा कर उत्तर दिया—'अवश्य, उन्हीं की तलाश में आया हूँ।'

उंगली से सामने की ओर इशारा करके बताया—ये हैं।

मैं निकट गया। देखा—एक टेबिल पर एक होल्डाल लिपटा रखा है और सिर तथा पैर उस के बाहर हैं। वे सोये हुए हैं मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि यह बिस्तर नहीं, मिस्टर पिल्ले हैं।

जगाने पर मालूम हुआ—दिन में उन्होंने आज ज्यादा पी ली थी; तबीयत भारी रही, 'इसीलिए इस प्रकार सो गये हैं।'

मैंने अपनी मुसीबत कही, और उन्होंने रास्ता बता दिया। मैं सन्तुष्ट हो गया।

मैंने पूछा—क्या तबीयत ठीक नहीं है?

उत्तर मिला—'सो तो है ही। सैकड़ों की हानि भी हो गयी।'

'वह कैसे?' मैंने प्रश्न किया।

उससे आपका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। उसे जाने भी दो मिस्टर वाञ्चू!

मैं उन्हें नमस्कार कर घर लौट पड़ा। रास्ते में सोचता आगे बढ़ रहा था कि आज वे इतने सुस्त क्यों थे—शायद किसी से रिश्वत मिलने वाली होगी, हाथ से शिकार निकल गया होगा दूसरा और कारण हो क्या सकता है?

इतने में मिल गये मिस्टर यज्ञदत्त। इनसे मेरी पुरानी जान-पहचान है। हरफनमौला आदमी है। उन्होंने पूछा—'क्यों भाई, आप मिस्टर पिल्ले को कैसे जानते हैं?'

'जानता कहाँ हूँ, जानने की चेष्टा कर रहा हूँ; किन्तु उन्होंने मेरे सारे प्रयत्न बेकार कर दिये।'

'कैसे?'

'कहीं पर भी उन्हें समझ नहीं पाया, आप की बात का केवल इतना ही

उत्तर हो सकता है; लेकिन चूंकि मैं उनसे दिलचस्पी लेता हूँ, इसलिये उन्हें छोड़ना भी अच्छा नही लगता। कभी-कभी तो मुझे उन पर बड़ी दया आती है और विषम प्रतिकूल परिस्थितियों से घिरा देख सहानुभूति भी...।'

'अजी, आज तक तो मैं ही अपने को तीसमारखाँ लगता था, लेकिन उन्होंने तो हम लोगों को भी पीछे छोड़ दिया।'

'क्या मैं भी आप से उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष जानकारी प्राप्त कर सकता हूँ ?'

तो सुनिये! 'लेकिन सब कुछ गोपनीय है।'

'कतई विश्वास रखिए।' मैंने उत्तर दिया।

मिस्टर यज्ञदत्त ने कहना प्रारम्भ किया—कल अपनी मित्र-मण्डली के साथ हम लोग शबनम के यहाँ जा रहे थे। रास्ते में मिल गये मिस्टर पिल्ले। बोले—'मुमकिन है, मेरी उपस्थिति आप लोगो को अप्रिय मालूम हो।' उनके इस वाक्य का अर्थ था, यदि उन्हें प्रसन्नतापूर्वक नहीं ले जाया जायगा, तो उनके वहाँ पहुँचाने का भी सन्देह किया जा सकता है। हम लोगों ने उन्हें भी ले लिया। वहाँ पहुँचने पर हम लोग ताश खेलने और पीने-पीलाने मे लग गये और मिस्टर पिल्ले लेटे-लेटे जाने का विचार करते रहे। पी चुकने के बाद उन्होंने अपने लेटने का स्थान चुना टेबिल, जिस पर शबनम बहुधा बैठ कर लिखा-पढ़ा करती है। कुछ समय तो वे धैर्य से लेटे रहे और बाद में उठ खड़े हुए और अचकचा कर बोले—'मिस्टर यज्ञदत्त, मुझे आज्ञा दीजिये। अब न रोकिये, बिलकुल न रोकिये।' मैंने पूछा—'क्यो ? क्या बात हो गई ?'

मिस्टर पिल्ले ने उत्तर दिया—'अभी-आपके मिलने के पूर्व मैं 'ब्राइट हाल रेस्टराँ' में चाय इत्यादि ले रहा था। मेरे हाथ में बैग था और उसमें कुछ सरकारी कागजात तथा १५० रुपये थे। मैं उसे वहीं भूल कर चला आया हूँ।'

सभी कह उठे—'फौरन जाइये साहब फौरन। यहाँ शिष्टाचार निभाने की अब आवश्यकता नही है।'

मिस्टर यज्ञदत्त कहते रहे—पिल्ले साहब वहाँ से निसक आये। दूसरे दिन वे एक स्वर्णकार के यहाँ पहुँचे थे, और अपनी पत्नी का हार बेच रहे थे। स्वर्णकार ने उसे कई बार कसौटी पर घिसा और उत्तर दिया—'साहब यह चोरी का माल दिखता है। मुझे माफ कीजिये।'

दूसरे दिन की घटना मुझे उन के एक अन्तरंग मित्र से मालूम हुई। मिस्टर यज्ञदत्त ने कहा—'इतना ही नहीं, उस दिन संध्या समय जब मैं मिस्टर पिल्ले के साथ वायुसेवन के लिये जा रहा था और शबनम की कोठी के नीचे से गुजरा, तो ऊपर से आवाज आई—आइये न साहब, आज हार नहीं ले जाइयेगा? मैंने सम्पूर्ण घटना-चक्र को समझ लिया।'

मिस्टर यज्ञदत्त की बातें सुनकर मैं ठहाका मार कर हँस पड़ा और घर को ओर चल पड़ा। रास्ते भर में मिस्टर पिल्ले के चरित्र की बारीकियों को सोचता रहा और घर आया, तो देखा—पिल्ले साहब उपस्थित है। मैंने पूछा—'क्यों, कैसे?'

बोले—'पाँच रुपया दीजिये मिस्टर बाञ्चू! वाइफ को कालरा हो गया है और दवा-दारू को व्यवस्था करनी है।'

मैं कुछ भी उत्तर न दे सका और जेब से सहानुभूतिपूर्वक पाँच रुपये निकाल कर उनकी भेंट कर दिये।

० ० ०

इधर मैं बहुत दिनों से मिस्टर पिल्ले से नहीं मिला; किन्तु सुनने में आया, वे नौकरी से घूसखोरी के अपराध में, अलग कर दिये गये है।

लेकिन जैसे मिस्टर पिल्ले पर प्रभू की सदैव कृपा होती रही। सन्ध्या को जब उस दिन मै अपने मित्रो के साथ वायुसेवन के लिये जा रहा था, तब देखता हूँ—मिस्टर पिल्ले विचित्र ड्रेस मे खड़े हैं। मस्तक पर एक बैटरी लगा रखी है। शरीर सूट-बूट से लैस है। सर पर बढ़िया नाइट कैप है। एक बूढ़ा सेवक खजूर का बड़ा पंखा पीछे खड़ा झल रहा है। वे उच्चकोटि के मंजन बेच रहे हैं और दूर की हाँक रहे हैं।

मै जो अनायस वहाँ जा खड़ा हुआ, तो उनकी दृष्टि मुझ पर आ पड़ी।

अपने चारों ओर खड़ी भीड़ को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा––'हाथ कंगन को आरसी क्या ? आप सब लोग मिस्टर वाञ्चू के दांतों को देख सकते हैं। कैसे अच्छे मोती जैसे दांत हैं ? इनका सौन्दर्य इनके दांत हैं ! ये मेरे पुराने ग्राहक हैं और मेरा ही मंजन प्रयोग में लाते हैं इतना कह चुकने के बाद वे मेरे दाँत खोलकर भीड़ को दिखलाने लगे।

भीड़ मेरी ओर देखने लगी। मिस्टर पिल्ले ने कहा—'कहिए न साहब, आप को मेरा मंजन लगाते कितने वर्ष हो गये ?'

मेरे मुँह से अनायास ही निकल गया––'कई वर्ष !'

लोग मंजन की शीशियों को खरीदने लगे और पिल्ले साहब बिक्री में जुट गये। मैंने अवसर पाकर राह ली। अपनी कमजोरी पर मुझे तरस आ रहा था, परन्तु कर ही क्या सकता था ? वह विवशता की असमर्थता थी।

लगभग पन्द्रह दिन पश्चात् चौराहे पर काफी भीड़ थी। मैं दफ्तर से घर लौट रहा था। पुलिस कई व्यक्तियों को घेरे खड़ी थी––उत्सुकतावश मैं अपनी साइकिल रोक कर नीचे आ गया। एक व्यक्ति से पूछा—"भाई क्या बात है?"

"काबुली लड़ रहे हैं।"

'क्यों ?'

'पता नहीं !'

मैं भीड़ के निकट जा पहुँचा। दूर से देखा––काबुली खून से लथपथ है। इसी बीच कान में आवाज पड़ी––'मिस्टर वाञ्चू, मिस्टर वाञ्चू !

मैंने घूम कर देखा, तो मुँह से निकल गया—'मिस्टर पिल्ले ! क्या बात है ? यह सब क्यों ?'

'इसकी परवाह क्या ? अच्छे मौके पर मिले, सुनो तो' !

मैं मिस्टर पिल्ले के निकट आ गया। उन्होने कान में कहा—'घर में कह देना जाकर, मैं तीन महीने के लिए कलकत्ते गया हूं। इस घटना का कतई जिक्र न करना, हाँ. . . . ।'

मैंने सिर हिलाते हुए अपनी स्वीकृति दे दी। फिर मिस्टर पिल्ले गरम हो पड़े और काबुली की ओर देख कर बोले—'कच्चा खा जाऊँगा कच्चा! समझा क्या है मुझे! तेरा काम है देना और मेरा काम है लेना! लेकर भी कोई वापस देता है? वह कोई दूसरे होंगे।'

भीड़ मिस्टर पिल्ले के साहस पर दंग थी। लोग कह रहे थे—'अच्छा आज काबुली को बनाज दिया है, इस पट्ठे ने ! हिन्दुस्तानी जनता को ये लूटते हे, लूटते! इनके साथ इसी तरह पेश आना चाहिए।'

काबुली और मिस्टर पिल्ले पुलिस की लारी में बैठ गये। लारी चलने लगी, तो मिस्टर पिल्ले ने प्रसन्नता पूर्वक मेरी ओर देखा और कहा—'अच्छा चलें दोस्त, अलविदा।'

इसके बाद कानपुर से मेरी बदली बनारस हो गयी। मैं अपनी पारिवारिक समस्याओ में ऐसा उलझा कि मिस्टर पिल्ले को केवल भूल ही भर नहीं गया, वल्कि ऐसा अनुभव हुआ, जैसे मेरा उनसे न कभी परिचय था और न कोई किसी प्रकार की जान-पहचान ही। कभी भी उनका काल्पनिक चित्र मेरे स्मृति-पट पर भूल से भी नहीं प्रतिविम्वित हो सका।

एक दिन, संध्या समय, अपनी आवश्यक वस्तुओ को खरीद कर घर लौट रहा था। मैंने देखा—सामने मोटर साइकिल पर, फौजी पोशाक में, मिस्टर पिल्ले।

आश्चर्य से एक वार चकित हो गया। हाथ अपने आप—मोटर साइकिल को रोकने के लिए उठ गये।

साइकिल रुक गयी। मिस्टर पिल्ले ने फौरन ही पहचान लिया। बोले—'हेल्लो मिस्टर वाञ्चू! यहाँ कैसे?'

'वदली हो गयी।' मैंने उत्तर दिया।

अँग्रेजी मे उत्तर दिया—'बहुत अच्छा हुआ? आओ वैठो, साथ चलो।'

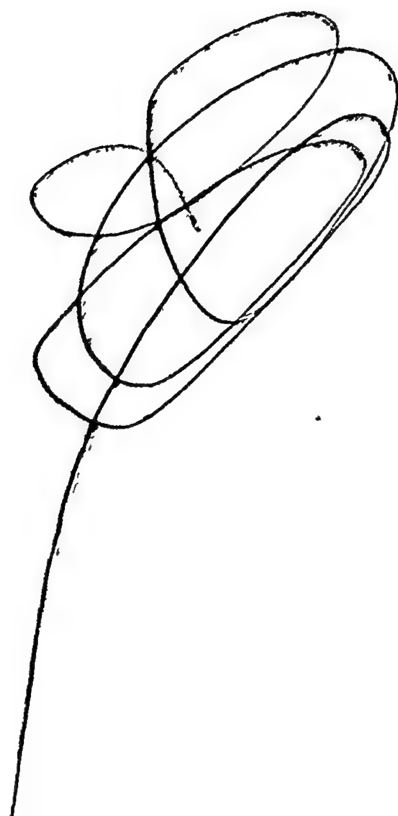
मैने कहा—'कहाँ जाना है?'

'बँगले । बैठो, चलो ।'

मैं साइकिल पर बैठ गया। उस क्षण मेरी विचित्र स्थिति थी। मोटर साइकिल तेजी से दौड़ती एक सुन्दर बँगले के सामने आकर रुक गयी। मिस्टर पिल्ले ने कहा—यह है मेरा गरीबखाना। मैं यहाँ का सीनियर मार्केटिंग इंस्पेक्टर हूँ। जमाना बदल गया।

मेरे मस्तिष्क में वह चित्र उठा, जब कि एक दिन मिस्टर पिल्ले पुलिस-लारी में अपराधी के रूप में, बड़े घर जाने की तैयारी कर रहे थे। मैं ठहाका मारकर हँस पड़ा। मेरे मुंह से अनायास ही निकल गया—'मैं आप को आप की सफलता के लिये मुबारकबाद देता हूँ।'

और टेबिल पर चाय हम लोगों की प्रतीक्षा कर रही थी।



चुनौती

विष्णु प्रभाकर

बद्रीनाथ यात्रा का महत्व प्राचीन काल में चाहे कितना ही प्राकृतिक रहा हो, पर आज वह केवल धार्मिक है। यात्रियों की श्रेणी इस बात का प्रमाण है। सरकारी पर्चे पर तो [illegible] बनाने वाले अधिकारियों को छोड़ कर अधिकतर वृद्ध, स्त्री, पुरुष, विधवाएँ या वीतराग अथवा और किसी प्रकार से दुखी व्यक्ति ही मुक्ति की प्यास लिए, अपने थके और जर्जर चरणों से उस विकट मार्ग को नापते देखे जाते हैं। और फिर इन लोगों की यात्रा की अन्तिम सीमा; बद्रीनाथ के मन्दिर पर पहुंच कर समाप्त हो जाती है। उससे दो मील आगे भारतभूमि के अन्तिम गांव माना या पांच मील आगे के हिम-प्रपात 'वसुन्धरा, को देखने कोई विरला ही जाता है। सतोपन्थ और अलकापुरी जाने की तो कल्पना करना भी दूर की बात है।

हमारे गोपाल बाबू इनमें से किसी श्रेणी में नहीं हैं। शरीर से क्षीण होने पर भी इन्हें वृद्ध नहीं कहा जा सकता। वीतरागी भी वे नहीं हैं, क्योंकि धर्म के नाम से वे उसी प्रकार भड़कते हैं, जिस प्रकार सांड़ लाल कपड़े से। इसलिए जब उन्होंने उत्तराखण्ड के दुर्गम पथ को ग्रहण किया, तब एक धर्मभीरु वृद्धा ने यही सब देख कर उनसे पूछा—"बेटा ! तुम कहां जा रहे हो ? तुम्हारी तो अभी यात्रा करने की उमर है नहीं।"

गोपाल ने उत्तर दिया— "मा ! मैं यात्रा करने नहीं आया हूँ।"

तब चकित स्वर में वह वृद्धा बोल उठी—"यात्रा करने नहीं आये, तो आये किसलिए हो ?"

"प्रकृति से प्रेम करने।"

वह धर्म-भीरु वृद्धा इस उत्तर का अर्थ क्या समझती ? हँस कर रह गई।

परन्तु गोपाल ने सारी यात्रा में इस प्रकृति-प्रेम का खुल कर परिचय दिया। यहाँ तक कि बद्रीनाथ पहुँचकर भी उसने मंदिर में होने वाले उत्सवों में कोई रुचि नहीं ली। किसी तरह रात बिता कर वह सवेरे ही वसुधारा के लिए चल पड़ा। उसका मित्र आनन्द सपरिवार उस के साथ था। और गोपाल उन के साथ था, यह कहें तो अधिक सत्य होगा, क्योंकि आनन्द एक बड़ा सरकारी अधिकारी था और निरीक्षण के कार्य से उधर जा रहा था। अच्छा साथ रहेगा—यह समझ कर गोपाल उसके साथ हो लिया था। वैसे उसका साथ बहुत सीमित था। ठहरने और खाने की सुविधा ने उन्हें बाँध रखा था। नहीं तो गोपाल सदा सब को छोड़कर प्रकृति से प्रणय करने की धुन में आगे बढ़ जाता था। वसुधारा के मार्ग पर भी उस ने सब को पीछे छोड़ देना चाहा; पर तभी आनन्द ने पुकार कर कहा—"अरे गोपाल! क्या पितरों को पानी भी नहीं दोगे?"

गोपाल ठिठका। बोला—"कैसे पितर? तुम क्या कहना चाहते हो?"

"वह देखो तुम्हारे दाहिने हाथ पर, अलखनन्दा के किनारे, उस शिला पर अंजलि की मूर्ति अंकित है"

"हाँ वह है तो......।"

"वह ब्रह्मकपाली है। कहते हैं, यहाँ स्वर्गद्वार से अंजलि फैलाकर पितर लोग अपने वंशधरों से पिण्डदान ग्रहण करते हैं।"

गोपाल ने हाथ की लाठी पर अपनी समस्त देह को तोलते हुए जवाब दिया—"आनन्द! मै पुण्य-अर्जन करने नही, ज्ञान-अर्जन करने आया हूँ।" और यह कह कर वह रुका नहीं, आगे बढ़ गया।

तब तूफानी हवा थम चुकी थी। आकाश में कहीं कोई मलिनता नहीं थी। मेघ थके पथिक की भाँति हिम-शिखर पर आराम कर रहे थे। दिशाएँ निखरी नीलिमा से मुखरित हो रही थी और अरुण किरणों का मुकुट पहन-कर कैलाश की गरिमा की तरह मुस्करा उठी थी।

गोपाल जिस मार्ग पर चल रहा था, वह अलखनन्दा के दाहिने किनारे पर, नारायण पर्वत के चरणों में, दूर तक समतल भूमि पर चला गया था।

इस ओर कहीं-कहीं नासपाती-अमरूद थे। उस ओर नन्दा देवी के आंचल में दूर-दूर तक ऊँची-नीची भूमि पर असंख्य भेड़-बकरियाँ और घोड़े चर रहे थे। उन्हें देखकर सहसा गोपाल को याद आया, यहीं कहीं श्यामकर्ण घोड़े दिखायी देते हैं। उसने दृष्टि गड़ा कर दूर-दूर तक उन अलौकिक जीवों को खोजना शुरू किया और फिर कुछ क्षण बाद एकदम वह लज्जित होकर हँस पड़ा—"मैं भी कैसा मूर्ख हूँ! जो नहीं है, उसी को खोज रहा हूँ।"

तब भीतर का गोपाल यह सोचकर और भी तेजी से हँसा—जो नहीं है, उसीको तो खोजा जाता है। उसी की खोज के लिए ज्ञान का समस्त उपयोग है।"

गोपाल का अन्तर जैसे हिल उठा—"विश्वास-अविश्वास का यह कैसा संघर्ष है। यह कैसा देवासुर-संग्राम निरन्तर चलता रहता है। ऊपर से जो कुछ है, उसका बिल्कुल उल्टा ही क्यों अन्तर में रहता है। अहंकार, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, दम्भ, इनमें क्या बहुत अधिक अन्तर है? अन्तर की कुरूपता, मालिन्य और सन्देह ये ही क्या बाहर के दम्भ के दूसरे रूप नहीं हैं? हाय रे नगण्य पुरुष! तू क्या! नगाधिराज के इस विराट रूप के सामने अपनी अहन्ता की विफलता को स्वीकार नहीं करेगा?"

'नहीं...नहीं.. .!" गोपाल ने मानो चीख कर कहा—"नहीं, मनुष्य दीन नहीं है, लघु नहीं है, वह यहाँ है और यही उसकी महानता का प्रमाण है।"

वह इसी संघर्ष में तल्लीन था कि आनन्द ने उसके कन्धे को छूकर कहा—"वह देखो गोपाल, तुम्हारे अध्ययन की एक वस्तु...।"

"क्या?" गोपाल चौंका।

"वह देखो वह पक्षी।"

गोपाल ने उसी दिशा में देखा—एक कौए जैसा पक्षी है, पर उसकी चोंच और पंजे लाल हैं।

उसने तब दूरबीन से बहुत-से ऐसे पक्षी खोज निकाले और चुकन्दर

जैसे रंग वाली एक युवती पुआल का अपेक्षाकृत बड़ा बोझ पीठ पर लिए पास से गुजरी तो, उस ने पूछा—"क्यों जी यह पक्षी है ?"

प्रश्न सुन कर युवती नीची दृष्टि किए हुए मुस्कराई और हटकर खड़ी हो गयी। न बोली न आगे बढ़ी, परन्तु पीछे-पीछे एक प्रौढ़ा आ रही थी। उसी युवती का सान्ध्य रूप उसे कह सकते हैं। झरने की तरह हँसती हुई बोली—"क्या पूछते हो, बाबूजी ?"

"वह कौन पक्षी है ?"

"क्यॉग चूं। तिब्बती कौआ।"

"तभी चें-चूं करता है।" गोपाल ने हँसते हुए कहा।

नारी तो हँस ही रही थी। उस हँसी से प्रोत्साहित होकर गोपाल उस से प्रश्न पर प्रश्न करने लगा। वह भूल गया कि उसे वसुधारा जाना है। ज्ञान की प्यास ने उसके इस ज्ञान को मोह के कुहरे से ढँक दिया। वह जब जागा, तब उसके साथी नीचे पुल तक पहुँच चुके थे।

वह तेजी से आगे बढ़ा, इतनी तेजी से उसे भागना पड़ा कि उसने उस निरन्तर झूले से झूलते रहने वाले पुल को पार किया। फिर 'माना' गाँव की प्राणायाम वाली चढाई चढ़ कर जैसे ही वह सरस्वती नदी के तट वाली बटिया पर आया, वैसे ही बादलों ने गर्जन-तर्जन के साथ आकाश को घेर लिया। अरुण का स्वर्णिम किरण-जाल छिन्न-भिन्न हो गया और ठण्डे कुहरे ने पृथ्वी को निगल जाने के लिए सुरसा की भाँति मुँह फाड़ना शुरू कर दिया। तभी उसे एक और नारी दिखाई दी। वही झरने-सी हँसी और गहरी सन्ध्या-सी लालिमा। पूछा—"वसुधारा कितनी दूर है ?"

"वह सामने है—दो माइल।"

"मार्ग क्या बहुत विकट है ?"

"न, न, सीधा है। जिस पर तुम जा रहे हो; बस बिल्कुल ऐसा।"

"धारा में बहुत ऊँचे से पानी गिरता है ?"

नारी हँसी और बोली—"हाँ, पर सब पर नहीं गिरती। जो असली माँ-बाप के हैं उन्हीं के मस्तक पर धार गिरती है।"

फिर वह हँस दिए, हँसी और सब गीत में मगन हो गई।

गोपाल भी हँसा, जैसे दिखाई दे रहे हों, पर यह उसने क्या कहा! उसका मन कुछ ऐसा ही पड़ा था। बस, उसकी भवें जगजाते ही शिथिल पड़ गई। वह सोचने लगा—"जो असली माँ-बाप के हैं, उन्हीं के मस्तक पर धार गिरती है। 'जो असली माँ-बाप के हैं'''' जो'''।" कि सहसा उस का ध्यान सुदूरभूत में जा पहुँचा—"द्रौपदी सहित पाण्डव चार युगों पूर्व इसी मार्ग से अलकापुरी गये थे, तब क्या यह धारा उन सब के मस्तक पर न गिरी होगी? क्या वे...! नहीं नहीं। ...यह सब पाखण्ड है, ढोंग है। मूर्खता की चरम सीमा है।" उसने खीझता से कहा और वह दूरबीन से सामने फैले हिमप्रदेश को देखने लगा। आगे इसी मार्ग पर सती-पंथ है। जहाँ मानिनी द्रौपदी ने प्राण विसर्जित किए थे। यही अलकापुरी है, जहाँ युधिष्ठिर ने कुत्ते को लेकर धर्मराज की उपाधि पाई थी। अच्छा तो क्या इसी अलकापुरी में इन्द्र का साम्राज्य था? क्या नर-नारायण के तप से डर कर इसी मे इन्द्र ने मेनका को उनका तप भंग करने के लिए भेजा था? तब उस दिन यह भयानक हिम-प्रदेश नारी के नूपुरों की झंकार से किस प्रकार झंकृत हो उठा होगा? प्रकृति का यह गैरिक रूप, उस प्रज्वलित वासना का स्पर्श पाकर जिस प्रकार इन्द्रधनुष की आभा-सा चमक उठा होगा! और...और क्या इस धारा की बूँदें उन सब के मस्तकों पर न गिरी होंगी!.....

वह जोर से हँसा—क्या वे सब वर्णसंकर थे? उन्हें माता-पिता की चिन्ता नहीं थी? यहाँ तक कि वे प्रतापी वसु भी, जिन का नाम इस धारा को मिला है, पूछने पर अपने माता-पिता का नाम न बता सके होंगे? और रूप की रानी वह उर्वशी? वह सौंदर्य की प्रतिमा! वहीं कुछ दूर उर्वशी कुण्ड पर उसका जन्म हुआ था, उस के मस्तक को भी तो इस धारा ने कभी नहीं छुआ होगा।

"अभागिन धारा !" उसने आकण्ठ सहानुभूति से भर कर कहा और वह हँस पड़ा। "वह मनुष्य कितना प्रपंची है। उफ! कैसा छकाया है उसने संसार को !"

वह तब एक बहुत ही सँकरे मार्ग पर आ गया था। एक ओर विशाल शिला-खण्ड थे। दूसरी ओर अलखनन्दा का अतल। वह ठिठका। क्षण भर रुक कर उसने उर्वशी की जन्मभूमि को देखा। 'वह अनुमान सौन्दर्य क्या इसी भयानकता के गर्भ से प्रकट हुआ था ? सुना है वहाँ सामने भोजपत्र के वन में कस्तूरा रहता है। सुगन्ध और सौन्दर्य दोनों की जन्मभूमि तनुता (नाजुकता) से कितनी दूर है ? पर......पर......हाँ, ठीक तो है। उसने एकदम सम्हल कर कहा—"जिसे मैं भयानक कह रहा हूँ क्या वही पुरुष के पौरुष की कसौटी नहीं है ? क्या वे सुगन्ध और सौन्दर्य को भोगने के अधिकारी पुरुष नहीं हैं, जो प्रकृति की रुद्रता को अपने पौरुष से मधुरता में बदल देते हैं ?"

तब गोपाल मुस्कराया—"तब वसुधारा के जलकण उन पुरुषों का निस्संदेह अभिषेक करते होंगे; क्योंकि पौरुष ही तो किसी के माता-पिता के गुण-अवगुण की कसौटी है।"

अपनी इसी खोज से गोपाल गर्व से भर उठा; पर उसी क्षण पास के खेत से निर्झर-सी हँसी फूट पड़ी। देखा-एक युवती है; पर इससे पूर्व कि नेत्रों का सम्मिलन हो, वह बिजली-सी दूर जा चमकी। उस निर्जन में गोपाल को लगा, जैसे उर्वशी हँस रही हो। हँसे जा रही हो। इधर-उधर, यहाँ-वहाँ सब कहीं कैलाश में उसकी यही हँसी व्याप्त है। क्षण भर रुककर वह फिर आगे बढ़ा कि वह फिर ग्रीवा उठा कर खिलखिला पड़ी। गोपाल फिर ठिठका। तब सहसा उसकी दृष्टि उसे खोजते-खोजते खेत की पक्की मेड़ पर जाकर अटक गई। देखा वहाँ दूरबीन रखी है। ओह ! विचारों में वह इतना खो गया था कि उसे छोड़े ही जा रहा था ! "तो क्या उसकी इसी भूल पर वह निर्झरिणी फूटी थी ?" उसने मुस्करा कर कह दिया— "तुम को बहुत धन्यवाद निर्झरिणी।"

धारण किये मनुष्यों ने एक दूसरे का सहारा लिए जलधारा के बीच में बैठे हुए थे। उन पर चढ़ना कठिन ही नहीं, असाध्य था। उन के सामने ही धार पर चढ़ना मानो मरण पर नाचना था, परन्तु…

गोपाल मुड़ा। उसने आनन्द को देखा—सुडौल शरीर, आजानबाहु, उन्नत ललाट, विशाल वक्षस्थल सुदृढ़ पग। मस्तिष्क में तूफान उठा—

"आनन्द बड़ी सरलता से इन पत्थरों पर चढ़ सकता है। वह चढ़ेगा—धारा उसके मस्तक का अभिषेक करेगी…और वह…वह…।"

गोपाल काँपा। जीवन में पहली बार उसे अपनी लघुता का अनुभव हुआ। वसुधारा उस के समूचे अस्तित्व को चुनौती देती जान पड़ी। उड़ती फुहारों के मिस मानो उसने अट्टहास करते हुए कहा —"तुम वर्णसंकर!' गोपाल तुम वर्णसंकर ! !…हा …हा…हा …'तुम वर्णसंकर' वर्णसंकर !!"

जैसे भुचाल आ गया हो ! धारा डोल उठी। गोपाल ने यंत्रवत् भयंकर गति से पत्थरों पर कूदना शुरू कर दिया। कुछ ही देर में वहां पहुँच गया, जहां धारा सीधी गिर कर एक बड़े शिलाखण्ड से टकराती थी। और फिर सहस्रों खण्डो से होकर वायु के साथ-साथ चारो ओर बिखर जाती थी। तब ठण्डे कुहरे के असंख्य बिन्दुओं ने उसे तर कर दिया। उसका अन्तर आनन्द से भीग गया। वह चिल्ला उठा —"मै वर्णसंकर नही हूँ। मैं वर्णसंकर नही हूँ।"

उस आनन्द मे वह कई बार चढ़ा और नीचे उतरा। फिर जैसे कुछ याद आया। शीघ्रता से दूर बैठे आनन्द के पास जाकर वह बोला—

"आनन्द ! क्या तुम वसुधारा के पास नही जाओगे ?"

"आनन्द ने शान्ति से जवाब दिया—"नही।"

"नही…!"

हाँ गोपाल! हम तुम क्या इतने मूर्ख है कि इस क्षुद्र जलधारा से अपने

माता-पिता के पाप-पुण्य का निर्णय करवायेंगे। ऊँहूँ!······तुम ठीक कहते थे—यह सब पाखण्ड है निरा पाखण्ड।"

और फिर टिफनदान खोलते हुए कहा—"आओ—भोजन कर लो। ठण्डा कुहरा पास आ गया है। कुछ ही क्षण में बर्फ गिरने लगेगी।"

गोपाल तब था भी और नहीं भी। उस का उल्लास तब औरों तक शिलाखण्डों से टकरा—टकराकर चीत्कार कर रहा था। उसकी ज्ञानार्जन क्षुधा जलबिन्दुओं के साथ उड़ कर उसकी खिल्ली उड़ा रही थी।



अर्थी के आँसू

मोहनसिंह सेंगर

जब सब लोग चले गये, तो प्रतिभा ने अपनी माता के कमरे में प्रवेश किया और इधर-उधर देख कर धीरे से बोली—"मां, आखिर मेरी शादी को लेकर तुम लोग इतने परेशान क्यों हो? क्या सचमुच मैं इतनी भारी हो गई हूं तुम सब के लिए? अगर ऐसा ही है, तो कुठौर फेंकने से कहीं ज्यादा अच्छा तो यही है कि मुझे किसी नदी-कुएं में ही ढकेल दो, पाप कटेगा।"

मां ने अन्यमनस्क भाव से, पर एक फीकी मुस्कुराहट के साथ, प्रतिभा को खींच कर अपने गले से लगा लिया और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोली—"तू सचमुच बड़ी भोली है, बेटी! अरे लड़कियां तो पराया धन है ही। बड़ी होने के बाद भला उन्हें कोई अपने पास रखता है?"

"हां, तो मैं कब कहती हूं कि मुझे अपने पास ही रखो।" रुंधे हुए गले से प्रतिभा ने कहा—"कह जो रही हूं कि किसी नदी-कुएं में धक्का न दे दो सब आफत मिट जायेगी।

इस बार मां ने प्रतिभा को अपने गले से हटा कर सामने खड़ा किया और उसकी आंखों में आंखें डाल कर बोली—"पागल मत बन, प्रतिभा मैंने कभी तेरी इच्छा के खिलाफ कुछ काम किया, या तुझ से कभी कुछ करवाया है? क्या कभी भी तेरे साथ मैंने कोई दुर्व्यवहार किया? फिर तेरी इस तानेजनी और इन आंसुओं का मतलब?"

एक सिसकी भर कर प्रतिभा ने आंखें झुका लीं और भर्राई हुई आवाज में बोली—"मतलब तुम सब जानती हो मां।"

तनिक झल्लाकर मां ने कहा—"भई तुझसे तो पेश आना भी

मुश्किल है। तुझे मालूम नहीं, तेरे पिता जी ने कितने दिनों से खाने-पीने और सोने आराम करने का खयाल छोड़ रात-दिन एक कर तेरे लिए इतना अच्छा घर-वर ढूँढ़ा है। क्या इसे तू कुठौर ही समझती है?"

"मैं नहीं समझती"—तनिक आवेश में आकर प्रतिभा ने कहा—"केवल यह समझती हूँ कि मैं अभी शादी नही करना चाहती। मैं अभी कुछ दिन और पढ़ना चाहती हूँ।"

"शादी नहीं करना चाहती! आगे पढ़ना चाहती हूँ!!" माँ ने जरा ताने के साथ कहा—"यह कहना बड़ा आसान है, बेटी जी। पर क्या तुम्हें आटे-दाल का भाव मालूम है? क्या तुझे मालूम है कि इस मँहगाई के जमाने में घर-गृहस्थी चलाना कठिन हो गया है?"

"तो साफ-साफ यों कहो कि तुम मेरी आगे की पढ़ाई का खर्च नहीं देना चाहती।" प्रतिभा ने तीखे स्वर में कहा।

प्रतिभा, तुम पढ़ी-लिखी हो, बेटी! मेरे मुँह से क्या-क्या कहलवाओगी? तुम जानती हो कि तुम्हारे दोनों भाइयों का दूध बन्द कर दिया गया। तुम्हारी शादी के लिए तुम्हारे पिताजी ने २-३ हजार रुपया बैंक में जमा किया था, मँहगाई ने उसे पचा लिया। इन दिनों कभी गौर से उनका चेहरा देखा है तुमने? चिंता और उदासी की झुर्रियाँ क्या कभी तुम्हें दिखाई दी उनके चेहरे पर? हाय भगवान्!"

"छिः छिः"—कहते हुए प्रतिभा के पिता ने कमरे में प्रवेश कर कहा—"यह क्या झगड़ा मोल ले बैठी तुम माँ-बेटी? मेरे चेहरे की झुर्रियों से और प्रतिभा से भला क्या मतलब? क्या आदमी कभी बूढ़ा नहीं होता।" और फिर हँसकर बोले—"प्रतिभा की माँ, तुम्हारी तरह मैं भला हमेशा जवान थोड़े ही बना रहूँगा?"

प्रतिभा की माँ जरा लजा गई। प्रतिभा ने धोती के छोर से आँसू पोंछे और कमरे से बाहर जाने लगी, पिता ने द्वार की ओर बढ़कर प्रतिभा का रास्ता रोकते हुए कहा··· "जरा रुको, प्रतिभा। मैं तुम्ही से कुछ बात करने आया हूँ। तुम मन खराब न करो बेटी, मैंने गौरीशंकर और उसके बड़े

भाई ने खूब जोर देकर और खोलकर कह दिया है कि वे तुम्हारे आगे पढ़ने की इच्छा पूरी करेंगे और इस दिशा में कोई अड़चन पैदा नहीं करेंगे। बोलो, अब तो तुम्हें कोई आपत्ति नहीं ?"

प्रतिभा कुछ नहीं बोली ! उस की आँखें नीचे ही झुकी रहीं । पिता ने फिर कहना शुरू किया—"सिर्फ नाम का ही सवाल नहीं है, बेटी तुम अब सयानी हो गयी हो । लोग पूछते हैं कि अभी तक प्रतिभा की शादी क्यों नहीं की ? पता नहीं, उन्हें दूसरों की शादी में इतनी दिलचस्पी क्यों है ?"

"अच्छी ही तो बात है"—प्रतिभा ने धीमी आवाज में कहा —"आप लोगों को खुश-संतुष्ट करके अपनी मान-प्रतिष्ठा की रक्षा कीजिए । इसमें भला मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ?" यह कह कर प्रतिभा कमरे से बाहर चली गई ।

पिता ने कुछ चिंतित-सी मुद्रा में प्रतिभा की माँ की ओर देखा और निराश स्वर में बोले—"हाय रे भाग्य ! अपनी ही सन्तान के मुख से क्या ऐसी बातें सुनना हमारे भाग्य में बदा था ?"

"तुम अपना मन खराब मत करो"—प्रतिभा की माँ ने आश्वस्त स्वर में कहा—"आज कल का जमाना ही ऐसा है । पता नहीं पढ़-लिख कर ये लड़कियाँ क्या करेंगी ?"

प्रतिभा के पिता ने एक गहरी ठण्डी साँस ली और धीरे-धीरे कमरे से बाहर चले गये ।

(२)

"वह क्या कहती या चाहती है, इससे मुझे कोई सरोकार नहीं" गौरीशंकर के बड़े भाई ने कहा—"पर मैं यह पूछता हूँ कि तेरे भी तो अक्ल है, तेरा मन क्या कहता है ?"

"भैया"—गौरीशंकर ने नम्रतापूर्वक कहा—'होगा तो वही' जो आप और माताजी आज्ञा देंगे, पर मैं समझता हूँ कि अगर उसे पढ़ने-लिखने की सुविधा दी जाय, तो इस में हर्ज ही क्या है ?"

"हर्ज ही क्या है ?"—आँखें मटकाकर बड़े भाई ने कहा—"नई-नई वहू मिली है, इसी से तू उस पर लट्टू है; पर कान खोलकर सुन ले—अगर तूने उसे दवा कर नहीं रखा, ज्यादा पढ़ाया-लिखाया और आजादी दी, तो याद रख एक दिन तुझे पछताना पड़ेगा—और खानदान के नाम पर जो वट्टा लगेगा, वह अलग से !"

गौरीशंकर अभी नई उम्र और कच्चे ज्ञान का युवक था। वड़े भाई की चेतावनी की गहराई को शायद भली भाँति समझ तो नहीं पाया; पर इतना उसे जरूर महसूस हुआ, कि उसका कुछ अर्थ जरूर है। हतप्रभ-सा वह चुपचाप वहाँ से अपने कमरे की ओर चला।

कमरे से वाहर पाँव रखते ही उसने देखा कि प्रतिभा चौखट के सहारे खड़ी सारी बातें सुन रही थी। उसके वाहर आते ही विना कुछ वोले ही वह भी उसके आगे-आगे कमरे की ओर चल पड़ी।

कमरे में पहुँचकर प्रतिभा दाहिनी ओर की दीवार का सहारा लेकर खड़ी हो गई और शून्य दृष्टि से छत की ओर अपलक निहारने लगी। गौरीशंकर ने पास आकर कहा—"तुमने भाई साहव का फैसला सुन लिया।"

"सुन लिया"—उसी-प्रकार छत की ओर देखते हुए प्रतिभा ने कहा।

गौरीशंकर चुप हो गया। "क्या कहे, कुछ समझ में नहीं आ रहा है !" प्रतिभा ने फिर कहना शुरू किया—"माँ के मुँह से, पिता जी के मुँह से, जेठ जी के मुँह से और शायद तुम्हारे मुँह से अभी सुनना वाकी है—एक ही वात निकलती है—लड़की को ज्यादा पढाना अच्छा नहीं। पढ-लिखकर वह हाथ से निकल जायगी ! !" उफ, कितने संकीर्ण और अदूरदर्शी हो तुम लोग ! जो स्वयं सुशिक्षित नही, जिनके अपने मानस और चरित्र का विकास नहीं हुआ वे इसके सिवा और सोच ही क्या सकते है ? और फिर पास खड़े गौरीशंकर की ओर मुखातिव होकर प्रतिभा ने जरा आवेश के स्वर में कहा, "मैं जानती हूँ, तुम लोग क्यों मुझे आगे पढ़ने नही देना चाहते। पैसों का प्रश्न उतना नही है जितना तुम्हारी सड़ी-गली मान्यताओं, कुसंस्कारों और अन्ध परम्पराओं का। तुम सोचते होगे कि घर की चहार-

[illegible] शादी में [illegible] हुई, आज्ञाकारी बांदी और उन झूठे आदर्शों की रक्षा [illegible], जो आज नारी-स्वातंत्र्य [illegible], जिनका एक मिट्टी [illegible] ।

[illegible] और [illegible] फिर हार [illegible] गौरीशंकर को अपने [illegible] पर विश्वास नहीं हो रहा था। [illegible] प्रतिभा के मुँह से आज वह [illegible] सुन रहा था? प्रतिभा [illegible] उसका यही [illegible] जो अभी तक [illegible] ऊँचा-नीचा था। अभी यह वह [illegible] रहा था कि प्रतिभा ने फिर कहना शुरू किया—"क्यों आप भी किसी [illegible] माँ और भाई के स्नेह ने आप के मन-मस्तिष्क पर गुलामी और परावलम्बन का बहुत गहरा रंग चढ़ा दिया मालूम होता है। उनसे अलग आप का कोई अस्तित्व है, यह शायद आप सोच ही नहीं सकते। फिर उनसे अलग होकर अपने पावों पर खड़े होने की बात तो अभी बहुत दूर की है! माँ और भाई की पराधीनता ने आपके आत्म विश्वास और स्वावलम्बन की प्रेरणा को जैसे मार ही दिया है; पर मैं उम्र-भर अपमान और पराधीनता के टुकड़ों पर पलते और आँसू बहाने यहाँ नहीं आई हूँ। पशु की तरह पेट भरने से कुछ परे भी जीवन का अर्थ है। देश और समाज के प्रति भी तो हमारा कुछ कर्त्तव्य है।"

गौरीशंकर आँखें फाड़ कर प्रतिभा की ओर एकटक देख और यह सब सुन रहा था। उसे ऐसा लग रहा था, मानो कोई सुधारवादी फिल्म देख रहा हो। उस के मुंह से केवल एक ही बात निकली—"तो तुम मेरी और भाई साहब की इच्छा के विरुद्ध चलोगी?"

"निस्संदेह"—सहज भाव से प्रतिभा ने कहा—"यह कोई बुरा काम तो है नहीं। फिर मैं तभी ऐसा करूँगी, जब कि अपना खर्च भी निकाल सकूँ। अगर मुझे आगे पढ़ना ही है, तो मैं व्यर्थ आप लोगों पर उसका बोझ क्यों डालूँ?"

"इसका मतलब हुआ कि तुम कहीं कुछ काम भी करोगी ?"

"हाँ, मतलब तो यह साफ है।"

"तो यह बात है!"—कहते हुए गौरीशंकर कमरे में इधर-उधर टहलने लगा। प्रतिभा कुतूहल-निश्चित मुद्रा से उसके चेहरे के भावों को पढ़ने की चेष्टा करने लगी।

(३)

उस दिन जब प्रतिभा लौटी तो गौरीशंकर आ चुका था। कपड़े उतार कर वह पंखे के नीचे सुस्ता रहा था। मेज पर किताबें रख प्रतिभा जल्दी से उसके पास आ गयी और सहज भाव से बोली—"आज मुझे आने में देर हो गई। बुरा तो नहीं मान गये ?"

"मैं बुरा मानने वाला होता ही कौन हूँ ?"—गौरीशंकर ने उदासीनता दिखाते हुए कहा—"भला अब हमारी किसे परवाह है ?"

'लो, फिर लगे न फालतू बातें करने। आज प्रोफेसर साहब ने फिर वही समानाधिकार का मामला छेड़ दिया। इस सम्बन्ध में बातें करते हुए मुझे तो समय का ध्यान ही नही रहा। कितने अच्छे आदमी हैं वे ? उनसे बातें करने में समय का ख्याल ही नहीं रहता।"

"क्यों प्रतिभा, प्रोफेसर तुमको बहुत पसन्द है—यानी बहुत अच्छे लगते हैं ?"

"हाँ अच्छे लगने लायक आदमी ही हैं वे।"

"मुझ से अधिक अच्छे लगते हैं तुम्हें वे ?"

गौरीशंकर के पास आ और उसकी आँखों मे घूमते हुए प्रतिभा ने जरा कड़े स्वर में पूछा—"क्या मतलब है तुम्हारा इस सवाल से ? तुम मेरी परीक्षा लेना चाहते हो, या अपने मन का चोर बाहर निकाल रहे हो ? छिः कितने संकीर्ण-हृदय हो तुम ?"

गौरीशंकर कुछ सकपका गया। फिर तनिक गम्भीर होकर बोला—"प्रतिभा तुम्हारे मुँह से रोज-रोज प्रोफेसर की प्रशंसा सुनते-सुनते मेरे कान पक गये। अगर प्रोफेसर तुम्हें बहुत पसन्द हैं, तो..."

"खबरदार जो मुँह से कोई ऐसी बात निकाली तो"—बीच में ही टोक कर प्रतिभा ने [illegible] कहा—"तुम अपनी जगह पर हो, प्रोफेसर अपनी। मेरा तुमसे जो सम्बन्ध है और मेरे मन में तुम्हारे लिए जो स्थान है, उसकी महत्ता और पवित्रता से मैं अच्छी तरह वाकिफ हूँ; पर प्रोफेसर मेरे आदर और श्रद्धा के प्रतीक हैं। आज के युग में ऐसे सच्चे सत्पुरुष कहाँ मिलते हैं? उनके विशाल उज्ज्वल व्यक्तित्व की छाया में मानो शत-सहस्त्र चन्द्रमाओं की-सी शीतलता और शान्ति मिलती है।"

"बस, बस, यह बकवास बन्द करो।"—गौरीशंकर ने तुनक कर कहा—"शर्म नहीं आती तुम्हें अपने पति के सामने पर-पुरुष की इतनी प्रशंसा करते? क्या इतने पर भी तुम असलियत पर पर्दा डाल सकती हो?"

"नहीं, शर्म की इसमें बात नहीं, मैं उन मूढ़-मना स्त्रियों में से नहीं हूँ, जिनके लिए अकेला पति ही परमेश्वर है और शेष सब पत्थर की निर्जीव मूर्तियाँ। तुम्हारा और मेरा एक शारीरिक सम्बन्ध है। जो मन-मस्तिष्क से अधिक शरीर का है; पर मेरे मन और मस्तिष्क मे आदर और श्रद्धा का प्रतीक बनी ऐसी कई मूर्तिया है, जो मेरी आराध्य है। प्रोफेसर भी उनमे से एक है।"

"तो तुम उन्ही के पास क्यो नही चली जाती!"—झल्लाकर कुर्सी पर से उठते हुए गौरीशंकर ने कहा—"मेरी छाती पर मूंग दलने और रोज उस-की तारीफो के पुल बाँधकर मेरा खून जलाने मे तुम्हे क्या मजा आता है?"

प्रतिभा सन्न रह गयी। उसका सारा शरीर रोमांचित हो उठा। उसे अपनी आंखो और कानो पर जैसे विश्वास नही हो रहा था। चित्र-खचित उसकी आँखे गौरीशंकर की ओर खुली-की-खुली रह गईं। पुरुष का मन—नहीं, नही पति का मन—कितना ओछा और संशयालु हो सकता है, उसे आज मानो नग्न रूप मे दिखाई दिया; पर उसके जी को जलाना ही गौरी-शंकर का उद्देश्य न था, उस पर नमक डालना भी अभीष्ट था। सो दरवाजे के पास रुककर गौरीशंकर ने कहा—"अहा, क्या त्रिया-चरित्र की माया सीखी है तुमने? ऐसे देख रही हो, मानो तुम्हे कुछ पता ही नही! मै

कोई मिट्टी का माधव नहीं हूँ, प्रतिभा। तुम मुझे जितना बुद्धू और भोला समझती हो, मैं उतना तो शायद नहीं हूँ। बहुत दिनों से पास-पड़ोस में तुम्हारे इस नये 'रोमान्स' की चर्चा है। माँ और भाई साहब तो इतने परेशान हैं कि उन्होंने मुझसे बात करना तक छोड़ दिया है। ज्यादा पढ़-लिख कर तुम यह करोगी, इसका मुझे स्वप्न में भी गुमान न था? आज हम लोग किसी के सामने आँख उठा कर देख भी नहीं सकते?"

प्रतिभा जैसे नींद से जगी? आश्वस्त-स्वर में उसने कहा—"ओह, तो बड़े दिनों से अपने दिल में जमा हुआ गुबार निकाल रहे हो आज। पहले तो तुमने कभी ऐसी आशंका प्रकट नही की? फिर इतने दिन तक साथ रह कर भी तुमने मुझे नहीं पहचाना और मुझ से अधिक उन लोगों पर विश्वास किया, जो नारी-स्वातन्त्र्य को फूटी आँखों भी देख नहीं सकते, जिन्हें दूसरों को बदनाम करने ही में मजा आता है। पर खैर, जब बात यहाँ तक पहुँच चुकी है, तब तुम्हे जिस तरह भी विश्वास हो, इस बात के सच-झूठ का निर्णय कर लो। पर, यह पहले बता दो कि इस बात के सच निकलने पर तो तुम जो चाहो मुझे सजा दे सकते हो; लेकिन अगर यह बात झूठ निराधार और कपोल-कल्पित साबित हुई, तो तुम क्या प्रायश्चित्त करोगे? जानते हो, यह झूठा लांछन लगा कर तुमने मेरे मन में अपना रहा-सहा स्थान भी खो दिया है। पति तो क्या, इन्सान के रूप में भी तुम मेरी नजरों से गिर चुके हो। बुजदिल नीच कहीं का।"

"जबान बन्द कर प्रतिभा"—गौरीशंकर ने डपट के स्वर में कहा—"नही तो अच्छा न होगा। हर बात की एक सीमा होती है। मैं तुझे इससे अधिक अपना अपमान नही करने दूँगा।"

"अपमान!"—मुँह बिराकर प्रतिभा ने कहा—"तुम जैसों का कोई आत्म सम्मान है, जो अपमान होगा। नीच, कुत्ते कहीं के!"

"देख जबान सम्भाल ...."—दाँत पीसकर गौरीशंकर चिल्लाया।

(४)

प्रोफेसर ज्योतिरिन्द्र बसु एकाकी जीव थे। जिस प्रकार किसी विशाल

पर्वत को किसी एक ओर से देख कर उसके सम्पूर्ण रूप का अन्दाजा लगाना कठिन है, उसी प्रकार इनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की जानकारी भी कठिन थी। अपने बारे में वे कभी किसी से कुछ कहते ही न थे। विवाह उन्होंने क्यों नहीं किया और विश्वविद्यालय से मिलने वाला सारा वेतन निर्धन छात्र-छात्राओं में बाँट कर वे अपना गुजर-बसर कैसे करते थे, उस बारे में लाख पूछने पर भी उन्होंने कभी कुछ नहीं बताया; पर नीरस बिलकुल नहीं थे और जरा-सा उनके हृदय में प्रवेश पा जाने पर तो न सिर्फ ज्ञान का अपूर्व खजाना ही हाथ लग जाता था, बल्कि एक ऐसे उज्ज्वल व्यक्तित्व के दर्शन भी होते थे, जो आज के मानव-समाज में दुर्लभ ही समझिए। उनके व्यक्तित्व के पारस-स्पर्श से न जाने कितने व्यक्ति सुवर्ण बन चुके थे।

संकट के समय इन्हीं के वरद हस्त ने प्रतिभा की रक्षा और सहायता की। प्रोफेसर के रूप में उसे गुरु ही नहीं, एक अगाध स्नेहशील पिता भी मिला और वह बिल्कुल भूल ही गयी कि प्रोफेसर उसके असली पिता नहीं हैं। प्रोफेसर ने भी प्रतिभा में मानो साक्षात् प्रतिभा के दर्शन किये। परिस्थितियाँ, बाधाएँ अभाव आदि जैसे उसे रोक ही नहीं पाते थे। कभी-कभी प्रतिभा के मुँह से नारी की पीड़न-शोषण की बातें सुन कर प्रोफेसर रोने लगते थे। प्रतिभा से उन्होंने प्रतिज्ञा करवा ली थी कि पढ-लिख कर वह केवल जीविकोपार्जन ही नहीं, बल्कि अपनी पीड़ित-ताडित बहनों के उद्धार के लिए भी कुछ करेगी। इसीलिए पढ़ाई के बाद और कभी-कभी पहले या बीच में नारी-पीड़न के संवादों की चर्चा दोनों बड़ी हार्दिक भावना के साथ किया करते थे।

आज प्रोफेसर बार-बार घड़ी देखकर मन-ही-मन कह रहे थे कि पता नहीं, प्रतिभा अभी तक क्यों नहीं आई? अधीर होकर वे कमरे में टहलने लगे। फिर खिड़की से देखा, तो गौरीशंकर के मकान के आगे कुछ लोग जमा देखे। उनकी कुछ समझ में न आया। दो-एक मिनट कुछ सोचने के बाद वे चप्पल पहन कर उस ओर चल दिये।

घर के बाहर गौरीशंकर को दौड़-धूप करते देख वे और पशोपेश में पड़े। उसके पास जाकर वे कुछ पूछना ही चाह रहे थे कि गौरीशंकर ने आँखों में आँसू भर कर अभिनय के पूरे कौशल के साथ कहा–"प्रोफेसर साहब, मैं तो लुट गया। मेरा तो सर्वस्व छिन गया। किसी तरह मुझे सहारा दीजिए। बल दीजिए कि मैं इस आघात को सहन कर सकूँ।"

"पर माजरा क्या है? मेरी समझ में नहीं आ रहा है।"—प्रोफेसर ने कहा।

"ओह, आप को सूचना भिजवाना तो भूल ही गया था। कल रात को हृदय की गति बन्द हो जाने से अचानक प्रतिभा का देहावसान हो गया। मेरी तो जान ही निकल गयी, प्रोफेसर साहब, अब मैं क्या करूँ? मेरा क्या होगा?"

प्रोफेसर को जैसे काठ मार गया। एक क्षण वे सन्न रह गये। फिर गौरीशंकर की ओर देख कर पूछा–"हार्टफेल! आपको ठीक मालूम है हार्टफेल ही हुआ है?"

'जी हाँ, जी हाँ"—कह कर गौरीशंकर ने इधर-उधर देखा और फिर विनीत स्वर में बोला–"आप से फिर बातें करूँगा। अब जरा अर्थी को उठवाने की जल्दी करनी है, वर्ना फिर धूप चढ़ आयेगी।"

प्रोफेसर कुछ कहें, इससे पहले ही गौरीशंकर उन्हें आशंकाओं और दुश्चिन्ताओं के भँवर में छोड़ कर घर के भीतर चला गया।

थोड़ी देर बाद अर्थी उठाई गयी। चार आदमियों के कन्धों पर उसे श्मशान की ओर ले जाया जाने लगा। प्रोफेसर ने कन्धा देना चाहा, पर उनके दुर्बल स्वास्थ्य को देख कर उनसे वैसा न करने का अनुरोध किया गया। वे मान गये और चुप-चाप अर्थी से कुछ कदम पीछे साथ-साथ हो लिये।

कुछ तो अपने स्वभाव के कारण और कुछ गर्मी के कारण प्रोफेसर नीचे जमीन की ओर देखते हुए चल रहे थे। एक जगह उन्हें सड़क पर खून की एक बूंद दिखलाई दी; परन्तु इस समय उसके बारे में सोचने की उनकी मनो-

दशा कहाँ थी? पर शीघ्र ही दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी, फिर पांचवी.. इस प्रकार खून की बूंदों की एक कतार-सी दिखाई दी। एक क्षण के लिये प्रोफेसर किसी सोच में पड़े, फिर न जाने क्या सोच कर आस-पास के लोगों को हटा कर वे अर्थी के बिलकुल निकट पहुंच गये और गर्दन झुका कर उसके निचले भाग को देखने लगे। बीच का हिस्सा कुछ अधिक नीचे झुका-सा दिखाई पड़ रहा था, उस स्थान से कोरे कपड़े में से छन-छन कर चन्द लमहों के अन्तर से खून की बूंदें टपक रही थी। प्रोफेसर की आंखों के आगे अंधेरा छा गया और वे वहीं गिरते-गिरते बचे। उनके पांव लड़खड़ाते देखकर एक व्यक्ति ने कहा—"आपकी तबीयत ठीक नहीं है प्रोफेसर साहब, आप श्मशान चलने की तकलीफ न करें। चलिए, आप को घर पहुंचा देते हैं।"

उस आदमी की सहायता से प्रोफेसर आये और बैठके मे रखे सोफे पर लम्बे पड़ रहे। पता नहीं कब तक वे उस अवस्था में वहां पड़े रहे।

० ० ०

दूसरे दिन सुबह भंगी ने आकर बताया कि प्रतिभा की हत्या करने के अभियोग में गौरीशंकर, उसका बड़ा भाई और मा, गिरफ्तार कर लिये गये हैं। लाश डॉक्टरी परीक्षा के लिये भेजी गयी है। सुना है कि लाश की पसली की दोनों हड्डियाँ टूटी हुई हैं।

०

इकलाई

चन्द्रकिरण सौनरिक्सा

बात अब से दस बरस पहले की है, पर सोनिया के मन पर तो वैसी ही उजली-उजली फैली है, मानो कल ही वह घटना हुई हो। जैसे कल ही तो बिसेसर ने उसे वह सुनहरे फूलों वाली इकलाई लाकर पहनाई हो। साड़ी तो वह कई बरस हुए फट गयी। बहुत सम्हाल कर पहनने पर भी इकलाई फट ही तो गयी। जहाँ तक पैवन्द लग सकते थे और सिलाई-गुँथाई हो सकती थी, गुँथाई करने में सोनिया ने कोर कसर नहीं रखी, पर कपड़ा तो आखिर कपड़ा ही है। फिर जब इस लड़ाई के और उसके बाद के इतने सालों में ब्याह के जोड़े के अतिरिक्त वही, एकमात्र बराऊ कपड़ा था, जो तीज-त्योहार-नाते-रिश्ते में पहन कर सोनिया ने काम चलाया। तो आखिर एक दिन उसे तार-तार होना ही था। हाँ, उसकी यादगार स्वरूप उसकी किनारी को उतार कर उसे अपने पुराने लकड़ी के बक्स में रख लिया है कि शायद कभी उसे मलमल नाम की दुर्लभ वस्तु पाँच क्या साढ़े चार गज भी मिल गयी, तो वह उस पर ही उस किनारी को एक बार और टाँक लेगी; पर मलमल तो क्या बाजार में गाढ़ा-गजी तक ऐसे नदारत हैं, जैसे दुकानदार अब अतलस, कीम-ख्वाब, सिल्क और साटन के अतिरिक्त और कुछ बेचना भूल ही गये हों। उसके देखते-सुनते इन सालों के बीच कई बार सुनाई पड़ा कि कपड़े पर कन्ट्रोल हो गया है। अब सबको कन्ट्रोल की दुकान पर से उस की जरूरत के माफिक कपड़ा मिलेगा। और कन्ट्रोल हुआ भी, पर सोनिया के यहाँ तो कभी ढंग का कपड़ा आया नहीं। एक तो महँगाई के मारे गांव में कभी चार पैसे सुभीते से रहते ही नहीं और जैसे-तैसे पैसे भी जुटाओ, तो उस कंट्रोल की दूकान पर लाइन में कई रोज खड़े होकर सौ-सौ

धक्के खाकर जितना कपड़ा मिलता था। उस में इकलाई तो कभी मिली ही नहीं। छोटे पनहे की मोटी जनानी धोती जो कभी मिली भी, तो घर में तीन स्त्रियों के बीच बंट जाती, ऊँट के मुँह में जीरे की भांति, छीन-झपट में ही चली जाती।

और सोनिया तब उलट-पलट कर यही दस बरस पुरानी इकलाई वाली घटना को दोहरा देती। उनका ब्याह हुए दो बरस हुए थे, तब बिरादरी की रोटी देने में उस सस्ती के जमाने में भी तीन रुपया कर्ज हो गया था बिसेसर पर। मौसी की हँसली भी गिरवी पड़ गयी थी। जो दो बरसों में तन पेट से बचाकर वह कर्ज जब उतारा गया, तो बिसेसर सोनिया के लिए पहली बार कुछ कपड़ा लेने बाजार गया।

लौटा तो दिये जल चुके थे। सुनिया रोटी वना रही थी। विधवा बूढी मौसी और बुआ बाहर के छप्पर में वैठी हुई किसी की नयी ब्याही बहू के गुण दोषों की मीमांसा में जुटी हुई थीं।

बिसेसर ने बगल का बण्डल खटोले पर रख दिया और बीड़ी का अन्तिम कश खींचा और उसे फेंक कर अन्दर को मुँह करके बोला—"तनिक एक लोटा जल दे जाओ, बड़ी प्यास लगी है।"

सुनिया घूंघट काढ़े आकर कटोरे में चार बड़े बताशे और लोटा भर पानी ले आयी। बताशे उसी नई बहू के घर से आये थे। मौसी ने इतने में बंडल खोल डाला था। घुंधली टूटी चिमनी वाली लालटेन की रोशनी में भी उस बंडल में लिपटी साड़ी की किनारी देख कर मौसी का मुँह खुला रह गया आंखों पर विश्वास न आया, तो हाथों से टटोल कर उस साड़ी के मुलायम कपड़े पर हाथ फेरने लगी।

बिसेसर तनिक मुस्कराया, फिर बोला—"कैसी लगी धोती मौसी? बाजार भर छान कर लाया हूँ?"

'कितने की है?' बुआ ने भी उजाले मे किनारी परखते हुए पूछा।

"तुम्ही बताओ कितने की होगी?" बिसेसर ने तनिक गर्व से कहा। मौसी चिढ़ गयी।

तिनक कर बोली—"न बाप दादों के राज में और न खसम के राज में कभी ऐसी साड़ी पहनी। बाप रे, कैसा महीन तार है इसका। मुट्ठी में दबा लो। दाम क्या बतावें? होगी यही तीन-एक रुपये की। जासती चाहे हो, कम की तो है नहीं।"

"ढाई रुपये, दो पैसे।" बिसेसर ने उत्तर दिया, लाला तो पौने तीन से कम करता ही नही था। आखिर पर हम भी मजूर हैं तो क्या, बड़े-बड़ों से काम रखते हैं। सैकड़ों बार लाला का माल स्टेशन से ढोकर लाया हूँ। साढ़े तीन आने छुड़ा ही तो लिये। लाला भी बोला—ले जाओ बेटा, तुम रोज के हमारे आदमी हो, एक साड़ी में चार आने का घाटा ही सही, किसी और भगवान से पूरा हो जायगा।"

"ढाई रुपये।" मौसी सन्न रह गई। भला नित रोज पहनने को साड़ी ढाई-ढाई रुपये की आने लगी, तब तो सुनिया रह ली इस घर में। आठ आने गज तो जापानी रेशम मिलता है। तीन रुपय में तो ब्याह का लँहगा बन जाय। क्षुब्ध स्वर में बोली—

"मैं कहती हूँ बिस्सू, तेरी अक्ल को क्या हो गया है। ढाई रुपये में तो काली किनारे की तीन मोटी धोती आ जाती, जो दो वर्ष भी न फटती। भला, इतना बारीक कपड़ा क्या हम मजूरिनों की बहू-बेटियों के पहनने की चीज है? अरे बहू को अपनी अमीरी ही दिखानी थी, तो दस रुपये की नई चाल की पाजेबें बनवा देता। बहुत धन जमा कर लिया था, तो मुझे भी एक जोड़ी बनवा देता। भला कपड़े में इतना पैसा फेंकना.."

मौसी के जी की जलन का मजा लेकर बिसेसर जरा हँस कर बोला—"तू भी मौसी कैसी बातें करती है। अरे क्या गहने गढ़ाने को दस-बीस न हों, तो अच्छा कपड़ा भी न पहिने। भगवान चाहा तो दो-तीन महीने में पायजेब भी बनवा दूंगा। अब जब कपड़ा लेने ही गया था, तो मुझसे तो रद्दी चीज ली नहीं जाती। वैसे तो ढाई रुपये मे कुरता भी आ जाता, पर मैं तो एक रुपया उधार करके डिमास का जम्पर सिलने दे आया हूँ। अरे अब लेना ही ठहरा, तो बढ़िया माल क्यों न लें।"

"तो मखमल का लँहगा सिला दे न ! क्या बाजार में मखमल नहीं बिक रही थी ?"

"अरे बुआ ! तुम भी चहकी" बिसेसर ने उठते हुए कहा—"क्या नहीं है बाजार में ? गाँठ में पैसा होना चाहिए । विलायत की मेम तक खरीदी जा सकती है । एक-एक दूकान पर वो-वो बढ़िया किनारे की धोती साड़ी लटक रही है कि देखते रह जाओगी । अच्छा, तारीफ नहीं करोगी कि मोतियों के बीच मे हीरा चुन लाया । अब तेरी ये बहू पहनेगी, तो चमक उठेगी । क्यो मौसी ?"

मौसी ने जल-भुन कर कहा—"चमकेगी क्यों नहीं ? इतनी पतली साड़ी मे तो अंग-अंग चमकेगी । अच्छा तो है, टोले-पड़ोस में सभी को बहू के दर्शन हो जायँगे ।"

"तू भी मौसी बस यूँ ही रही । बाल सफेद हो गये, पर अकल नहीं आई । अरी ! बाबू लोगो की घरवाली तो नित-रोज इकलाई ही पहनती है । क्या वे नंगी दीखे है ? क्या नाम उसका पेटीकोट . . .हाँ, यही तो दो गज लट्ठे में सिल जायेगा । दो आने गज का लट्ठा ले लेना उस दुर्गा बजाज से, फेरी करने आता है । और लालाजी की बहू से मशीन करा दूँगा ।"

मौसी मुँह में बड़बड़ाती हुई उठकर बाहर चली गई । पड़ोस में चार घर कह कर जी का दुःख निकल जाता है न । बुआ भी रमजू की बीमार घर वाली को देखने जाने का बहाना करके चल पड़ी । कपड़े पर इतने पैसे की बरबादी दोनों वृद्धाओं को असह्य हो रही थी । गहने पर रुपया खर्चना तो उनकी समझ में आता था; क्योंकि गहने ही तो उनका वह समस्त आधार होते हैं जिस पर गरीबों के अधिकांश काम हो जाते है । बेरोजगारी में उन्हें ही आधे दामों में बेच कर पेट की समस्या हल होती है । बीमारी-हारी में उनको ही गिरवी रख कर दवा-दारू दूध का इन्तजाम होता है । यही नहीं, मरने पर कफन-काठी के लिए गहने ही अन्तिम सहारा होते हैं । चाँदी के वे चन्द गहने, जो तन-पेट में रूखा-सूखा खा-पहन कर बनवा लिये जाते हैं, मौसी की समझ में वही पेट भर का सिंगार और भूखे का आधार होते है ।

पर इन नई रोशनी के छोकरों को वह क्या कहे। उस दिन गई रात तक पड़ोस में अपने घर की इकलाई के फैशन की चर्चा करती रही। और उस उतने अरमानों की इकलाई को जब पहले-पहल सुनिया ने पहिना था तो उसकी समस्त देह में गुलाब खिल उठे थे। और बिसेसर ने मन में सोचा कि अब आगे से इकलाई ही पहनाऊँगा।

पर दोबारा इकलाई पहनाने की नौबत नहीं आई; क्योंकि इस बीच बिसेसर बीमार पड़ गया। और एक लड़की का बाप भी बना। दोनों ही खर्चे इतने भारी थे कि सुनिया के कपड़े, परिवन्द और लच्छे गिरवी रख कर ही पार पाया।

बिसेसर ने अपने जान अच्छे होकर जी-तोड़ मेहनत की। यही नहीं सुनिया भी, जो कभी आस-पास के बड़े घरों में कूटना-पीसना मिल जाता, तो कूटती, पर ये सात समुन्दर पार जो कही जर्मनी वाले से लड़ाई छिड़ गई थी, उससे महँगाई जो बढ़ी, तो कही रुकने का नाम न लेती थी।

कर्जा उतार कर चीजें छुड़ाने में दो बरस लग गये। तिस पर बाजार मे कभी गेहूँ गायब हो जाता, तो कभी मिट्टी का तेल। और तो और एक बार नमक और रेजगारी तक मिलनी बन्द हो गयी। मजूरी बढ़ती न हुई, सो बात नहीं; पर मजूरी में अगर रुपये में चवन्नी बढ़ती तो चीजें अठगुनी-दसगुनी चढ़ गयी थीं।

सुनिया हैरान होकर पूछती—"क्यों जी, क्या मिट्टी का तेल भी लड़ाई पर जा रहा है? चीनी भी? कोयला-लकड़ी भी?"

बिसेसर पढा नहीं तो क्या, शहर के सभी लोगों की उड़ती-उड़ती बातें तो सुनता है। पत्नी के भोलेपन पर हँस कर कहता—"तू भी बस यूँ ही है। अरी! सिपाहियों को क्या वहाँ कुछ नही चाहिए? अब तो सबुर कर-के दिन काट। जब लड़ाई बन्द हो, तो चीनी खाइयो। दीयो जलाइयो।"

और सुनिया बड़े सब्र से सालों अँधेरे में रोटी करती रही। कभी बाजार से भूख बुझाई, कभी बाल-बच्चों को शकरकन्द उबाल कर ही पेट का आधार कराया। हे भगवान! लड़ाई बन्द हो जाय, तो वह महावीर जी को सवा सेर

का रोट चढ़ावेगी। बात यह है कि और देवता तो घी का पकवान माँगते हैं; पर महावीरजी तो तेल का रोट चढ़ा कर भी काम चल सकता है।

इकलाई बहुत सम्हाल-सम्हाल कर पहनने पर भी फटने लगी। बिसेसर पाँच-सात रुपये अंटी में डालकर वैसी साड़ी लेने के लिए बाजार गया; पर दुकानों पर तो उसने वैसे कपड़े के किनारे की झलक भी न देखी। हाँ, एक ने उसे बताया जरूर कि लाला दीपचन्द की बहू अब भी वैसी इकलाई पहनती है, पर उन्नीस रुपये की एक मँगाई है। "उनका क्या, राजा आदमी है।" बिसेसर ने कहा—"लड़ाई खतम हो, तो जरा सस्ता होने पर एक बार इकट्ठी चार पाँच इकलाई ला दूँगा।" सुनिया भी आश्वस्त होकर कहती—"हाँ जी, बिटिया भी सयानी हो गई। एक दो कपड़ा उसके लिए भी तो रखना होगा।"

आज सुनिया की लड़की की सगाई होने वाली है। नौ बरस की बिटिया उनकी दृष्टि में बहुत बड़ी हो गई है। महीना पहले से ब्लेक से जौ-मटर खाकर वह राशन का गेहूँ बचाकर रखती रही है। चीनी भी इकट्ठी कर ली है। घी तो खैर असली मिल ही नहीं सकता, इसका उसे ध्रुव विश्वास है। इसी से डालडा लेने तक के लिए भी लाइन में खड़ा होना पड़ता है। परसों मौसी तीन घण्टा धूप में तप कर कहीं ला पाई है। बढ़िया चावल तो ढूँढ़ने पर भी कहीं नहीं मिला। वही राशन का मोटा अरवा चावल ही मेहमानों को खिलाना होगा; पर मुसीबत है कपड़े की। कपड़ा तो जैसे सपना हो गया है। सुनिया बेचारी तो समझ ही नहीं पाती कि वे अच्छे दिन कहाँ चले गये? जब गाँठ में पैसा होने से दुनिया भर की चीजें आ जाती थीं। लड़ाई बन्द हो गई। सुराज भी मिल गया। नेहरू जी राजा भी हो गए पर महँगाई रत्ती भर भी नहीं घटी। कपड़ा तो महँगा-सस्ता कैसा भी नहीं मिलता। भला समधी के सामने वह ब्याह का जोड़ा पहने भली लगेगी। नहीं जी जैसे भी हो एक किनारादार अच्छी धोती तो मँगानी ही पड़ेगी—एक धोती के लिए इससे अधिक दामों की कल्पना सुनिया कदाचित् सात जन्म भी नहीं कर सकती। उसने अपनी गोलक तोड़ी। उसमें सोलह रुपये सात आने निकले

जैसे कलेजे के टुकड़े अपने हाथों बिसेसर को सौंप रही हो, उसी तरह से रुपये उसके हाथों में रखती हुई वह बोली—"देखो जी! जैसे भी हो एक धोती जरूर ले आना।"

बिसेसर क्या चाहता नहीं कि सुनिया अच्छा कपड़ा पहने?

आज ही कन्ट्रोल से कपड़ा मिलने की खबर है। वहाँ अच्छी इकलाई तो क्या मिलेगी, पर जो भी मिले, ले आवेगा। अगर मरदानी धोती मिल गई, तो वही सही। पुरानी किनारी उसी पर टाँक लेगी, रंग लेने पर सब ऐब ढंक जायेगा।

दोपहर में मेहमान लोग आ गये। बिसेसर कपड़ा लेने गया था। सुनिया मोटी मैली धोती पहिने कोठरी में दुबकी रही। बस मौसी ने ही हुक्के-तमाखू और शर्बत पानी देने का जिम्मा ले रखा था।

बिरादरी के पाँच-छः बजे तक आ जायेंगे। सुनिया ने कोठरी में ही धुएँ और गर्मी से झुलसते हुए पूरियाँ, पुये-कचौड़ी, सब कुछ बनाया है। रह-रह कर छप्पर की ओर ताकती कि शायद बिसेसर साड़ी लेकर आता होगा।

पाँच बजे पसीने से तर धूप में दिन भर खड़े रहने से काला पड़ा चेहरा लिये बिसेसर लौटा कन्ट्रोल की दुकान से। पाँच गज मोटी मारकीन और चार गज पतला डोरिया मिला था।

अन्दर जाकर बण्डल पत्नी के हाथों में रख दिया।

सुनिया ने आटा सने हाथों से ही बण्डल खोल डाला।

"और साड़ी!" उसने मारकीन की तहें अच्छी तरह टटोलकर पूछा।

"बस-बस साड़ी-वाड़ी यही है। सारे दिन लैन में खड़े होकर यही मिला है। इस मारकीन पर टाट की किनारी जड़कर पहन लीजो।" बिसेसर ने जले स्वर में उत्तर दिया।

"अरे तो क्या पन्द्रह रुपये में भी इकलाई नहीं मिली? लड़ाई खत्म हुए भी सालों हो गये।"

"लड़ाई साली क्या करेगी—बिसेसर फूट पड़ा—"जब तक इन

चोर-बाजारी करने और काला मुनाफा करने वालों का सत्यानाश न होगा, कोई चीज भी मिलनी कठिन है। जानती है बाजार में किसी ने भी खुली बढ़िया इकलाई होने की हामी ही नहीं भरी।...'

भला मजूर के मैले-फटे रुपये! क्या इकलाई खरीद सकते हैं? एक सूरजमल ने बहुत निहोरा करने पर कहीं भीतर से लाकर दिखाई भी तो दाम जानती है क्या मांगे! उन्नीस रुपये! इन दामों माल न बिके; तो भी उनकी बला से। चोर बाजारी की कमाई थोड़ी कर ली है उन्होंने!"

सुनिया तब रुँआसी होकर कपड़े रखने चली। लकड़ी का बक्स खोलकर उस पुरानी किनारी को हनग्ल से ढंक कर उसने मारकीन उसी में रख दी और पुराने ब्याह के लहँगे की तह खोलने लगी।

○

लगने में बहुत-सी बातें गलत लगती हैं। इसीलिए कहता हूँ कि लगना अर्थ नहीं होता, कई बार अनर्थ होता है। अर्थ वास्तविकता है, वास्तविक जगत् की सचाई है; लगता है सो मन का विकल्प है, अन्तर्जगत् की स्पृहा मात्र है, छंद है। दोनों में कहीं ताल-तुक मिल जाता तो काम की बात होती। नहीं मिलता, यह खेद की बात है। ताल-तुक मिलना अर्थ है, न मिलना अनर्थ है।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में कुछ-न-कुछ लगता रहता है। मजेदार बात यह है कि व्यक्ति का लगना अलग-अलग होता है। 'अ-लग' अर्थात् जो न लगे। लगता है पर नहीं लगता, यह भी कोई तुक की बात हुई ? तुक की बात तब होती जब लगना 'अलग' लगना न होता। इसीलिये कहता हूँ कि तुक अर्थ में होता है। जिसने इस पेड़ का नाम देवदारु दिया था उसे क्या लगा था, कह नहीं सकता। बात औरों को भी कमोबेश लगी होगी, तभी सबने मान लिया। जो सबको लगे सो अर्थ; एक को लगे, बाकी को न लगे तो अनर्थ ! अलगाव को ही पुराने आचार्यों ने पृथकत्व बुद्धि का नाम दिया है। और भी समझाकर कहा है कि यह अलगाव 'मैं-पन' है, 'अहकार' है। इधर कवि लोग है कि उन्हें हमेशा कुछ देख कर कुछ-न-कुछ लगता ही रहता है। खुले आम कहते है कि मुझे ऐसा लग रहा है। क्यो कहते हो बाबा कि 'मुझे' ऐसा लग रहा है। दुनिया की ओर भी देखो। वह तुम्हें पागल कहेगी। पागल को भी तो कुछ-न-कुछ लगता ही रहता है। मगर दुनिया को देखता हूँ तो हैरत मे पड़ जाता हूँ। कवि को जो कुछ लगता है, उसके लिए वाह-वाह कहके उसे सिर उठा लेती है। कुछ समझ में नही आता—'हौं ही बौरी विरह बस, के बौरो सब गाँव।'

बिहारी अच्छे खासे कवि माने जाते हैं। उन्ही की बात याद आ गई थी। बात इतनी ही सी थी कि कोई विरह की मारी स्त्री कह रही है कि मै ही पागल हो गई हूँ या सारा गाँव पागल हो गया है ? क्या समझ कर ये लोग चाँद को ठडी किरनवाला कहते हे—'कहा जान ये कहत है ससिहि सीतकर नाँव।' विरह की मारी महिला का दिमाग बिगड गया है, जो सबको ठडा लग रहा है, उसे वह दाहक मान रही है।

पागलपन ही तो है। मगर जब विहारी ने उसे दोहा-छंद में बाँध दिया तो बात बिलकुल बदल गई। हाय-हाय कैसी विरह-वेदना है कि उस सुकुमार बालिका को चाँद भी गरम मालूम पड़ता है। हृदय के भीतर जलनेवाली विरहाग्नि ने उसे किसी काम का नहीं छोड़ा। हे भगवान्, तुम ऐसा कुछ नहीं कर सकते कि सारे गाँव के समान इस बालिका को भी चन्द्रमा उतना ही शीतल लगे जितना औरों को लगता है! अर्थात् विरहिणी की दारुण व्यथा अब सबके चित्त की सामान्य अनुभूति के साथ ताल मिलाकर चलने लगी। पागल का 'लगना' एक का लगना होता है, कवि का 'लगना' सबको लगने लगता है। बात उलटकर कही जाए तो इस प्रकार होगी—जिसका लगना सबको लगे वह कवि है, जिसका लगना सिर्फ उसे ही लगे; औरों को नहीं, वह पागल है। लगने-लगने में भी भेद है। जो सबको लगे वह अर्थ है, जो एक को ही लगे, वह अनर्थ है। अर्थ सामाजिक होता है।

मगर देवदारु नाम केवल नाम ही नही है। मैंने अपने गाँव के एक महान् भूत-भगावन ओझा को देवदारु की लकड़ी से भूत भगाते देखा है। आजकल के शिक्षित लोग भूत में विश्वास नहीं करते। वे भूत को मन का वहम मानते है। पर गाँव में भूत लगते मैंने देखा है। भूत भागते भी देखा है। भूत भी 'लगता' है। सब लगालगी वहम ही होती होगी। आँखों को भी। विहारी जानते थे। कह गए हैं—'लगालगी लोयन करें; नाहक मन बँधि जाय।' नाहक अर्थात् बेमतलब, निरर्थक।

हमारे गाँव में एक पंडितजी थे। अपने को महाविद्वान् मानते थे। विद्या उनके मुँह से फचाफच निकला करती थी। शास्त्रार्थ में वे बड़े-बड़े दिग्गजों को हरा देते थे। विद्या के जोर से नही, फचफचाहट के आघात से। प्रतिपक्षी मुँह पोंछता हुआ भागता था। अगर कुछ कैंड़े का हुआ तो दैहिक बल से जय-पराजय का निश्चय होता था। मेरे सामने ही एक बार खासी गुत्थमगुत्थी हो गई। गाँव-जवार के लोगों को पंडितजी की विद्या पर भरोसा नही था, पर उनकी फचाफच वाणी और भीम काया पर विश्वास अवश्य था। शास्त्रार्थ में पंडितजी कभी हारे नही। कम लोग जानते है कि शास्त्रार्थ में कोई हारता नही, हराया जाता है!

पंडितजी के यजमान जमके उनके पीछे लाठी लेकर खड़े हो जाते थे तो उनकी विजय निश्चित हो जाती थी। पंडितजी केवल बड़े दिग्गज विद्वानों को ही नही, आसपास के भूतो को भी पराजित करने में अपना प्रतिद्वन्द्वी नही जानते थे। गायत्री का मन्त्र (जो उनके मुँह से आल्हा जैसा सुनाई देता था) और देवदारु की लकड़ी—उनके अस्त्र थे। एक बार वे बगीचे से गुजर रहे थे, घोर अंधकार, भयंकर सुनसान ! क्या देखते हैं कि आगे दनादन ढेले गिर रहे हैं। पंडितजी का अनुभवी मन तुरन्त ताड़ गया कि कुछ दाल मे काला है। मनुष्य इतनी तेजी से ढेले नही फेंक सकता। पंडितजी डरनेवाले नही थे। पीछे मुड़कर ललकारा—अरे केवन है ! केवन अर्थात् कौन। पीछे मुंडकट्टा, घोड़े पर चढ़ा चला आ रहा था, टप्प-टप्प-टप्प ! (यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए बता दूँ कि एक बार मैंने अपने गाँव मे भूतो के जाति-भेद की जांच की थी। कुल तेईस किस्म के हैं। मुँड़कट्टा एक भूत ही है। मूंड नही है। छाती पर दो आंखे मशाल की तरह जरती रहती हैं। घोड़े पर चढ़कर चलता है) सो, पंडितजी से उलझने की हिमाकत की इस दुरन्त मुँड़कट्टे ने। डरनेवाला कोई और होता है। पंडितजी ने जूता उतार दिया, वह गायत्री मन्त्र के पाठ मे बाधक था। झमाझम गायत्री पढ़ने लगे। देवदारु की लकड़ी मुट्ठी मे थी। दे रद्दे पर रद्दा। बिचारा मुँडकट्टा त्राहि-त्राहि कर उठा। अबकी बार छोड़ दो पंडितजी, पहचान नही सका था। अब फिर यह गलती नही होगी। आज से मैं तुम्हारा गुलाम हुआ। पंडितजी का ब्राह्मण मन पसीज गया। नही तो यह सारे गाँव-जवार का कंटक समाप्त हो गया होता। मैंने यह कहानी स्वयं पंडितजी के मुँह से सुनी थी। अविश्वास करने का कोई उपाय नही था—फर्स्टहैंड इन्फर्मेशन था। उस दिन मेरे बालचित्त पर देवदारु की धाक जम गई थी। अब भी क्या दूर हुई है ?

आज देवदारु के जंगल में बैठा हूँ। लाख-लाख मुँडकट्टों को गुलाम बना सकता हूँ। भूतों में जैसे मुँड़कट्टे होते है, आदमियों मे भी कुछ होते है। मस्तक नाम की चीज उनके पास होती ही नही, मस्तक ही नही तो मस्तिष्क कहाँ, लता ही कट गई तो फूल की सम्भावना ही कहाँ रही—

'लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्योद्भवः कुतः' ? क्या इन मुँड़कट्टों को देवदारु की लकड़ी से पराभूत किया जा सकता है ? करने का प्रयत्न ही तो कर रहा हूँ। परन्तु पंडितजी के पास तो फचफची गायत्री थी, वह कहाँ पाऊँ ?

मन की सारी भ्रान्ति को दूर करनेवाले देवदारु, तुम्हे देखकर मन श्रद्धा से जो भर जाता है, वह अकारण नही है। तुम भूत-भगावन हो, तुम वहम-मिटावन हो, तुम भ्रान्ति-नसावन हो। तुम्हे दीर्घकाल से जानता था, पर पहचानता नहीं था। अव पहचान भी रहा हूँ। तुम देवता के दुलारे हो, महादेव के प्यारे हो, तुम धन्य हो।

जानता हूँ कि बुद्धिमान लोग कहेंगे कि यह महज गप्प है। यह भी जानता हूँ कि कदाचित् अन्तिम विश्लेषण पर पंडितजी की कहानी 'पत्ता खड़का, बन्दा भड़का' से अधिक वजनदार न साबित हो। संभावना तो यहाँ तक है कि पत्ता भी न खड़का हो और पंडितजी ने आद्योपान्त पूरी कहानी बना ली हो। मगर बलिहारी है इस सर्जन शक्ति की। क्या शानदार कहानी रची है पण्डितजी ने ! आदिकाल से मनुष्य गप्प रचता आ रहा है, अब भी रचे जा रहा है। आजकल हम लोग ऐतिहासिक युग में जीने का दावा करते हैं। पुराना मनुष्य 'मिथकीय युग' में रहता था, जहाँ वह भाषा के माध्यम को अपूर्ण समझता था, वहाँ मिथकीय तत्त्वों से काम लेता था। मिथक—गप्पें—भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास है। आज भी क्या हम मिथकीय तत्त्वों से प्रभावित नही है ? भाषा बुरी तरह अर्थ से बँधी हुई है। उनमें स्वच्छन्द संचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। मिथक स्वच्छन्द विचरण करता है। आश्रय लेता है भाषा का, अभिव्यक्त करता है भाषातीत को। मिथकीय आवरणों को हटाकर उसे तथ्यानुयायी अर्थ देनेवाले लोग मनोवैज्ञानिक कहलाते हैं, आवरणों की सार्वभौम रचनात्मकता को पहचाननेवाले कला-समीक्षक कहलाते है। दोनों को भाषा का सहारा लेना पड़ता है, दोनों धोखा खाते हैं। भूत तो सरसों में है। जो सत्य है, वह सर्जनाशक्ति के सुनहरे पात्र में मुँह बन्द किए ढँका ही रह जाता है। एक-पर-एक गप्पों की परतें जमती जा रही है। सारी चमक सीपी की चमक में चाँदी देखने की तरह मन

का अभ्यास मात्र है। नाम कहाँ नहीं है, क्या नहीं है? मगर छोड़िए भी।

देवदारु भी सब एक-से नहीं होते। मेरे बिलकुल पास में जो है, वह जरठ भी है, खूसट भी। जरा उसके नीचे की ओर जो है, वह सनकी-सा लगता है। एक मोटेराम राह के एक प्रान्त पर उगे हैं, आधे जमीन मे, आधे अधर मे; आधा हिस्सा ठूँठ, आधा जगर-मगर; सारे कुनवे के पाधा जान पड़ते हैं। एक अल्हड़ किशोर है, सदा हँसता-सा; कवि जैसा लगता है। जी करता है इसे प्यार किया जाए। सदा से ऐसा होता आया है। हर देवदारु का अपना व्यक्तित्व होता है। एक इतना कमनीय था कि बैल की ध्वजावाले महादेव ने उसे अपना वेटा वना लिया था। पार्वती माता की छाती से दूध ढरक पड़ा था। कालिदास खुद कह गए हैं। मगर कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें 'सबै धान बाईस पसेरी' दिखते हैं। वे लोग सबको एक ही जैसा देखते हैं। उनके लिए वह खूँसट, वह पाधा, वह सूम, वह सनकी, वह झिझोटा, वह झबरैला, वह चपरगंगा, वह गदरौना; वह खिटखिटा, वह झक्की, वह झुमरैला, वह वोकरा, वह नटखटा, वह चुनमुन, वह बाँकुरा, वह चौरंगी, सब समान हैं। महादेवजी के प्यारे वेटे के कमनीय व्यक्तित्व को भी सब नहीं पहचान सकते थे। एक मदमत्त गजराज आये और अपने गण्ड-स्थल की खाज मिटाने के लिए उसी पर पिल पड़े। जड़े हिल गई, पत्ते झड गए, खाल छूट गई और आप खाज मिटाते रहे। महादेव जी को वड़ा क्रोध आया। आना ही था। उन्होंने उसकी रक्षा के लिए एक सिंह तैनात कर दिया। पर मेरे सामने जो अल्हड कवि है, इनका क्या होगा। वह तो कहिए कि इधर हाथी आते ही नही। फिर भी डर तो लगता ही है। हाथी न सही, गधों और खच्चरो से तो शहर भरा पड़ा है। लेकिन मैं जिधर हूँ, उधर वे भी कम ही आते है। गाहे-बगाहे आ भी जाते है। पर उन्हे देवदारु की तरफ देखने की फुरसत नही होती। उन्हे देखने को और बहुत-सी चीजे मिल जाती है। बहरहाल, कोई खास चिन्ता की वात नही है। इस देश के लोग पीढ़ियो से सिर्फ जाति देखते आ रहे है, व्यक्तित्व देखने की उन्हे न आदत है, न परवा है। सन्त लोग चिल्लाकर थक गए कि 'मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो

म्यान' मगर तलवार बन्द ही रह गए, म्यान के मोल-भाव से बाजार गर्म है। व्यक्तित्व को यहाँ पूछता ही कौन है! अर्थमात्र, जाति है; छन्दमात्र, व्यक्तित्व है। अर्थ आसानी से पहचाना जा सकता है, क्योंकि वह धरती पर चलता है; छन्द आसानी से पकड़ में नहीं आता, वह आसमान में उड़ा करता है।

बात यह है कि जब मैं कहता हूँ कि देवदारु सुन्दर है तो सुननेवाले सुन्दर का एक सामान्य अर्थ ही लेते हैं। हजार तरह के सुन्दर पदार्थों में रहनेवाला एक सामान्य सौन्दर्य धर्म। सौंन्दर्य का कौन-सा विशिष्ट रूप मेरे हृदय में उल्लास तरंगित कर रहा है, यह बात बस, मैं ही जानता हूँ। अगर मुझमें इस बात को कहने की शक्ति नहीं हुई तो यह गूँगे का गुड़ बनी रह जाएगी। जिसमें शक्ति होती है, वह कवि कहलाता है। अनेक प्रकार के कौशल से वह इस बात को कहने का प्रयत्न करता है, फिर भी शब्दों का सहारा तो उसे लेना ही पड़ता है। शब्द सदा सामान्य अर्थ को प्रकट करते हैं। कवि विशिष्ट अर्थ देना चाहता है। वह छन्दों के सहारे, उपमान-योजना के बल पर, ध्वनिसाम्य के द्वारा विशिष्ट अर्थ का साधारणीकरण करता है। तो भी क्या सब उसके विशिष्ट अर्थं को समझ पाते हैं? बिलकुल नहीं। कोई बड़भागी होता है जिसके दिल की धड़कन कवि के दिल की धड़कन के साथ ताल मिला पाती है। कवि के हृदय के साथ जिसका हृदय मिल जाय उसे 'सहृदय' कहा जाता है। देवदारु की ऊर्ध्वशिखा-शोभा मेरे हृदय में एक विशेष उल्लास पैदा करती है। मेरे पास कवि-कौशल नाम की चीज नहीं है। मैं अपने विशिष्ट अनुभवों का साधारणीकरण नही कर पा रहा हूँ। कवि होता तो कर लेता। उपमानों की छटा खड़ी कर देता, सहृदय के चित्त को अपने चित्त के ताल पर नृत्य कराने योग्य छन्द ढूंढ़ लेता, ध्वनियों की नियतसंचारी समता का ऐसा समाँ बाँधता कि सुननेवाले का मन मयूर की भाँति नाच उठता, पर मेरे भाग्य में यह कुछ भी नही है। केवल आँख फाड़कर देखता हूँ, पाषाण की कठोर छाती भेदकर यह देवदारु न जाने किस पाताल से अपना रस खींच रहा है और क्रम-ह्रस्व छाया का वितान तानता हुआ ऊर्ध्वलोक की ओर किसी अज्ञात निर्देशक

के तर्जनी-संकेत की भाँति कुछ दिखा रहा है। यह इतनी उँगलियाँ क्या यों ही उठी हुई है? कुछ बात है, अवश्य कुछ रहस्य है। भीतर ही भीतर अनुभव कर रहा हूँ, पर बता सकूं ऐसी भाषा कहाँ है? हाय, मैं असमर्थ हूँ, मूक हूँ! मीमांसकों का एक सम्प्रदाय मानता था कि शब्द का अर्थ वहाँ तक जाता है, जहाँ तक वक्ता ले जाना चाहता है। वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते है। ये लोग कहते है कि जब जैमिनी मुनि ने कहा था कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तो उनका यही मतलब था। मेरा रोम-रोम अनुभव कर रहा है कि मुनि की बात का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए। कहाँ विवक्षा इतनी दूर तक ले जाती है? 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करके मै जो कहना चाहता हूँ, वह कहाँ प्रकट हो पा रहा है? कहना तो बहुत चाहता हूँ, कोई समझे भी तो। नही, शब्द उतना ही बता पाता है, जितना लोग समझते है, वक्ता जो कहना चाहता है, उतना कहाँ बता पाता है वह? दुनिया में कवियों की जो कदर है, वह इसलिए है कि वे जो अनुभव करते है, उसे श्रोता के चित्त मे प्रविष्ट भी करा सकते है। प्रेषणधर्मिता उनके कहे का एक प्रधान गुण है। मैं नही पहुँचा पाता हूँ उस अर्थ को, जिसे मेरा मन अनुभव कर रहा है। क्योंकि मैं शब्दों और छन्दों का ऐसा अस्त्र नही पाता हूँ, जो मेरी अनुभूतियों को लेकर तीर की तरह श्रोता के हृदय में चुभ जाए। अर्थ निश्चय ही वक्ता की इच्छा के अधीन नही है। वह सामाजिक स्वीकृति चाहता है। उसमे लय नही, संगीत नही, नाद नही, गति नही। वह स्थिर है। शब्दों के गतिशील आवेश से वह हिलता है, भरभराता है, नये-नये परिवेश में सजता है और तब कही नया अर्थ पैदा करता है। अर्थ मे लय नही होता, वह लय के सहारे नया अर्थ देता है।

लेकिन देवदारु है शानदार वृक्ष। हवा के झोंकों से जब हिलता है तो उसका आभिजात्य झूम उठता है। कालिदास ने इसी हिमालय के उस भाग की, जहाँ से भागीरथी के निर्झर झरते रहते है, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन की चर्चा की थी, उन्होने शीतलता को भागीरथी के निर्झर सीकरों की देन कहा, सुगन्धि को आसपास के वृक्षों के पुष्पों के सम्पर्क की बदौलत घोषित किया; लेकिन मन्दी के लिए मुहुः कम्पित देवदारु को

उत्तरदायी ठहराया। देवदारु के बारबार कम्पित होते रहने में एक प्रकार की मस्ती अवश्य है। युग-युगान्तर की संचित अनुभूति ने ही मानो यह मस्ती प्रदान की है। जमाना बदलता रहा है, अनेक वृक्षों और लताओं ने वातावरण से समझौता किया है, कितने ही मैदान में जा बसे हैं और खासी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है; लेकिन देवदारु है कि नीचे नहीं उतरा, समझौते के रास्ते नहीं गया और उसने अपनी खानदानी चाल नहीं छोड़ी। झूमता है तो ऐसा मुसकराता हुआ; मानो कह रहा हो, मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ। तुम्हारे करिश्मे मुझे मालूम हैं, मुझसे तुम क्या छिपा सकते हो—'मो तें दुरैहो कहा सजनी निहुरे-निहुरे कहुँ **ऊँट की चोरी!'** हजारों वर्ष के उतार-चढ़ाव का ऐसा निर्मम साक्षी दुर्लभ है।

भारतीय संस्कृति की देन

भारतीय संस्कृति पर कुछ कहने से पहले मैं एक निवेदन कर देना कर्त्तव्य समझता हूँ कि संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नही मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे ससार मे अनुभूत और अंगीकृत नही हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजरकर और भौगोलिक परिस्थितियो में रहकर ससार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान् मानवी सस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओ, कलात्मक प्रयत्नो और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियो के भीतर से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमश: प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते है। यह सस्कृति शब्द बहुत अधिक प्रचलित है, तथापि यह अस्पष्ट रूप मे ही समझा जाता है। इसकी सर्वसम्मत कोई परिभाषा नही बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और सस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है। फिर इसको एकदम अस्पष्ट भी नही कह सकते, क्योकि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही सस्कृति है। इसकी अस्पष्टता का कारण यही है कि अब भी मनुष्य इसके सम्पूर्ण और व्यापक रूप को देख नही सका है। संसार के सभी महान् तत्त्व इसी प्रकार मानव-चित्त मे अस्पष्ट रूप से आभासित होते है। उनका आभासित होना ही उनकी सत्ता का प्रमाण है। मनुष्य की श्रेष्ठतर मान्यताएँ केवल अनुभूत होकर ही अपनी महिमा सूचित करती है। उनको स्पष्ट और सुव्यवस्थित परिभाषा मे बाँधना सब समय सम्भव नही होता है। केवल नेति-नेति कहकर ही मनुष्य ने उस अनुभूति को प्रकाशित किया है। अपनी चरम सत्यानुभूति को प्रकट करते समय कबीरदास ने इसी प्रकार की

विवशता का अनुभव करते हुए कहा था—"ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कहौ अनूठा लो !" मनुष्य की सामान्य संस्कृति भी वहुत-कुछ ऐसी ही अनूठी वस्तु है। मनुष्य ने उसे अभी तक सम्पूर्ण पाया नहीं है; पर उसे पाने के लिए व्यग्र भाव से उद्योग कर रहा है। यह मार-काट, नोंच-खसोट और झगड़ा-टंटा भी उसी प्रयत्न के अग हैं। आपको यह बात वहुत विरोधाभास-सी लगेगी, पर है सत्य। रास्ता खोजते समय भटक जाना, थक जाना या झुँझला पड़ना, इस बात के सबूत नही है कि रास्ता खोजने की इच्छा ही नहीं है। कविवर रवीन्द्र-नाथ ने अपनी कविजनोचित भाषा में इस वात को इस प्रकार कहा है कि यह जो लुहार की दुकान की खटाखट और धूल-धक्कड है, इनसे घवराने की जरूरत नही है। वहाँ वीणा के तार तैयार हो रहे हैं। जब ये तार वन जायेगे तो एक दिन इनकी मधुर संगीत-ध्वनि से निश्चय ही मन और प्राण तृप्त हो जायँगे। ये युद्ध-विग्रह, ये कूटनीति दाँव-पेंच, ये दमन और शोषण के साधन, ये सब एक दिन समाप्त हो जायँगे। मनुष्य दिन-दिन अपने महान् लक्ष्य के नजदीक पहुँचता जायगा। सामान्य मानव-संस्कृति ही ऐसा दुर्लभ लक्ष्य है। मेरा विश्वास है कि प्रत्येक देश और जाति ने अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं और भौगोलिक परि-स्थितियों के अनुसार उस महान् लक्ष्य के किसी-न-किसी पहलू का अवश्य साक्षात्कार किया है। ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक साधनों के परिणाम-स्वरूप भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न जातियाँ एक-दूसरे के नजदीक आती जायँगी, त्यों-त्यों इन अंश-सत्यों की सार्थकता प्रकट होती जायगी और हम सामान्य व्यापक सत्य को पाते जायँगे। आज की मारा-मारी इसमें थोड़ी रुकावट डाल सकती है; पर इस प्रयत्न को निःशेष भाव से समाप्त नहीं कर सकती। अपने इस विश्वास का कारण मैं आगे बताने का प्रयत्न करूँगा।

जो आदमी ऐसा विश्वास करता है, उससे संस्कृति के साथ 'भार-तीय' विशेषण जोड़ने का अर्थ पूछना नितांत संगत है ! क्या 'भारतीय' से मतलव भारतवर्ष के समस्त अच्छे-बुरे प्रयत्न और संस्कार है ? नहीं, समस्त भारतीय संस्कार अच्छे ही है या मनुष्य की सर्वोत्तम साधना की

ओर अग्रसर करनेवाले ही हैं; ऐसा मैं नहीं मानता। ऐसा देखा गया है कि एक जाति ने जिस बात को अपना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार माना है, वह दूसरी जाति की सर्वोत्तम साधना के साथ मेल नहीं खाता। ऐसा भी हो सकता है कि एक जाति के संस्कार दूसरी जाति के संस्कार के एकदम उलटे पड़ते हों। हो सकता है कि एक जाति मंदिरों और मूर्तियों के निर्माण में ही अपनी कृतार्थता मानती हो और यह भी हो सकता है कि दूसरी जाति उनको तोड़ डालने को ही अपनी चरम सार्थकता मानती हो। ये दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं। ऐसे स्थलों पर विचार करने की आवश्यकता होगी। श्रेष्ठ लक्ष्य परस्पर-विरोधी नहीं होता। प्रसिद्ध संत रज्जबदास ने कहा था—"सब साँच मिलै सो सांच है, ना मिलै सो झूठ।" सम्पूर्ण सत्य अविरोधी होता है। जहां भी विरोध दीखे, वहां सोचने की जरूरत होगी। हो सकता है कि दो भिन्न-भिन्न जन-समुदाय मोहवश दो असत्य बातों को ही बड़ा सत्य मान बैठे हों। हो सकता है कि दोनो में एक सही हो और दूसरा गलत। साथ ही यह भी हो सकता है कि दोनों सही रास्ते पर हों; पर उनके दृष्टिकोण गलत हो। यदि हमे अपनी गलती मालूम हो तो उसे निर्मम भाव से छोड़ देना होगा। महाभारत ने बहुत पहले घोषणा की थी कि जो धर्म दूसरे धर्म को बाधित करता है, वह धर्म नहीं है, कुधर्म है। सच्चा धर्म अविरोधी होता है—

धर्मो यो बाधते धर्म न स धर्मो कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिसत्तम॥

मैं जब 'भारतीय' विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो मैं भारतवर्ष द्वारा अधिगत और साक्षात्कृत अविरोधी धर्म की ही बात कहता हूँ। अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परम्परा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिए इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयत्न किए है। जितने अंश में वह प्रयत्न संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्नों का अविरोधी है, उतने अंश में वह उनका पूरक भी है। भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न जातियों

के अनुभूत और साक्षात्कृत अन्य अविरोधी धर्मों की भाँति वह मनुष्य की जययात्रा में सहायक है। वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितने अंश में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है, उतने ही अंश में वह सार्थक और महान् है। वही भारतीय संस्कृति है, उसको प्रकट करना, उसकी व्याख्या करना या उसके प्रति जिज्ञासा-भाव उचित है। यह प्रयास अपनी बड़ाई का प्रमाणपत्र संग्रह करने के लिए नही है, वल्कि मनुष्य की जययात्रा में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से प्ररोचित है। इसी महान् उद्देश्य के लिए उसका अध्ययन, मनन और प्रकाशन होना चाहिए।

मनुष्य की जययात्रा ! क्या मनुष्य ने किसी अज्ञात शत्रु को परास्त करने के लिए अपना दुर्द्धर रथ जोता है ? मनुष्य की जययात्रा ! क्या जान-वूझकर लोकचित्त को व्यामोहित करने के लिए वह पहले ही जैसा वाक्य वनाया गया है ? मनुष्य की जययात्रा का क्या अर्थ हो सकता है ? परन्तु मैं पाठकों को किसी प्रकार के शव्द-जाल में उलझाने का संकल्प ले कर नही आया हूँ। मुझे यह वाक्य सचमुच वड़ा वल देता है। न जाने किस अनादि काल के एक अज्ञात मुहूर्त्त में यह पृथ्वी नामक ग्रहपिंड सूर्य-मंडल से टूटकर उसके चारों ओर चक्कर काटने लगा था। मुझे उस समय का चित्र कल्पना के नेत्रों से देखने में वड़ा आनन्द आता है। उस सद्यस्त्रुटित धरित्री-पिंड में ज्वलंत गैस भरे हुए थे। कोई नही जानता कि इन असंख्य अग्निगर्भ कणों में से किसमें या किनमें जीवतत्त्व का अंकुर वर्तमान था। शायद वह सर्वत्र परिव्याप्त था। इसके वाद लाखों वर्ष तक धरती ठंडी होती रही, लाखों वर्ष तक उस पर तरल तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा होती रही, लाखों वर्ष तक उसके भीतर और वाहर प्रलय-कांड मचा रहा, पृथ्वी अन्यान्य ग्रहों के साथ सूर्य के चारों ओर उसी प्रकार नाचती रही, जिस प्रकार खिलाड़ी के इशारे पर सरकस के घोड़े नाचते रहते हैं। जीवतत्त्व स्थिर-अविक्षुव्ध भाव से उचित अवसर की प्रतीक्षा में वैठा रहा। अवसर आने पर उसने समस्त जड़शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया—नगण्य तृणांकुर के रूप में ! तव से आज तक सम्पूर्ण जड़शक्ति अपने आकर्षण का समूचा वेग लगाकर भी उसे नीचे की ओर नहीं खींच सकी। सृष्टि के इतिहास में यह एकदम अघटित घटना

थी। अब तक महाकर्ष (ग्रेविटेशन पावर) के विराट वेग को रोकने में कोई समर्थ नही हो सकता था। जीवतत्त्व प्रथम वार अपनी ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति की अदना ताकत के बल पर इस महाकर्ष को अस्वीकार कर सका। तव से वह निरन्तर अग्रसर होता गया। मनुष्य उसी की अंतिम परिणति है। वह एक कोश से अनेक कोशो के जटिल संघटन मे कर्मेन्द्रियों से ज्ञानेन्द्रियों की ओर ज्ञानेन्द्रियों से मन और वुद्धि की तरफ विकसित होता हुआ मानवात्मा के रूप में प्रकट हुआ। पंडितो ने देखा है कि मनुष्य तक आते-आते प्रकृति ने अपने कारखाने मे असंख्य प्रयोग किए है। पुराने जंतुओं की विशाल ठठरियाँ आज भी यत्र-तत्र मिल जाती है और उन असंख्य प्रयोगो की गवाही दे जाती है। प्रकृति अपने प्रयोग में कृपण कभी नही रही है। उसने वरवादी की कभी परवाह नही की। दस वृक्षों के लिए वह दस लाख वीज वनाने मे कभी कोताही नही करती। यह सव क्या अर्थ की अंधता है, सुस्पष्ट योजना का अभाव है या हिसाव न जानने का दुष्परिणाम है? कौन वताए कि किस महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रकृति ने इतनी वरवादी सही है? हम केवल इतना ही जानते है कि जव जीवतत्त्व समस्त विघ्न-वाधाओ को अतिक्रम करके मनुष्य रूप मे अभिव्यक्त हुआ, तव इतिहास ही वदल गया। जो कुछ जैसा होना है, वह होकर ही रहेगा—यही प्रकृति का अचल विधान है। कार्य-कारण वनता है और नये कार्य को जन्म देता है। कार्य-कारणों की इस नीरंध्र ठोस परम्परा मे इच्छा का कोई स्थान नही था। जो जैसा होने को है, वह होकर ही रहेगा। इसी समय मनुष्य आया। उसने इस साधारण नियम को अस्वीकार किया। उसने अपनी इच्छा के लिए न जाने कहाँ से एक फाँक निकाला। जो जैसा है, वैसा ही मान लेने की विवशता को उसने नही माना; जैसा होना चाहिए, वही वडी वात है। इस जगह से सृष्टि का दूसरा अध्याय शुरू हुआ। एक वार कल्पना कीजिए, तरल-तप्त धातुओं के प्रचण्ड समुद्र की, निरन्तर झरनेवाले अग्निगर्भ-मेघों की; विपुल जड़-सघात की, और फिर कल्पना कीजिए क्षुद्राकार मनुष्य की! विराट् ब्रह्माण्ड-निकाय, कोटि-कोटि नक्षत्रो का अग्निमय आवर्त्त-नृत्य, अनन्त शून्य में निरन्तर उद्भूयमान और विनाशमान नीहारिका पुञ्ज

विस्मयकारी हैं, पर उनसे अधिक विस्मयकारी है मनुष्य, जो नगण्य स्थान-काल में रहकर इनकी नाप-जोख करने निकल पड़ा है ! क्या मनुष्य इस सृष्टि की अन्तिम परिणति है ? क्या विधाता ने केशवदास के वीरबल की भाँति इस कृती वीज की रचना करके हाथ झाड़ लिया है—कै कर-तार वली वलबीर दियो करतार दुहूँ करतारी ? कौन कह सकता है ? परन्तु क्या यह मनुष्य की अमोघ जययात्रा नहीं है ? क्या यह इस बात का प्रमाण नही है कि समस्त गलतियों के बावजूद मनुष्य मनुष्यता की उच्चतर अभिव्यक्तियों की ओर ही बढ़ रहा है ?

यह जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होना है, जो कुछ जैसा होने-वाला है, उसको वैसा ही न मानकर जैसा होना चाहिए, उसकी ओर जाने का प्रयत्न है, यही मनुष्य की मनुष्यता है ! अनेक बातो में मनुष्य और पशु में कोई भेद नही है। मनुष्य पशु की अवस्था से ही अग्रसर होकर इस अवस्था में आया है। इसलिए वह स्थूल को छोड़कर रह नहीं सकता। यही कारण है कि मनुष्य को दो प्रकार के कर्त्तव्य निवाहने पड़ते है, एक स्थूल की क्षुधा को निवृत्त करना और दूसरा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर बढ़ानेवाली अपनी ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को संतुष्ट करना। आहार-निद्रा आदि के साधन भी मनुष्य को जुटाने पडते है। यद्यपि मनुष्य-वुद्धि ने इनमें भी कमाल का उत्कर्ष दिखाया है, पर प्रयोजन प्रयोजन ही है। प्रयोजन के जो अतीत है, जहाँ मनुष्य की अनंदिनी वृत्ति ही चरितार्थ होती है, वहाँ मनुष्य की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति को संतोप होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य-संघबद्ध होकर रहने का अभ्यस्त होता गया, त्यों-त्यों उसे सामाजिक संघटन के लिए नाना प्रकार के नियम-कानून बनाने पडे। इस संघटन को दोषहीन और गतिशील बनाने के लिए उसने दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था भी की, इन वातों को एक शब्द मे सभ्यता कहते है। आर्थिक व्यवस्था राजनैतिक संघटन, नैतिक परम्परा और सौंदर्य-वोध को तीव्रतर करने की योजना; ये सभ्यता के चार स्तंभ है। इन सबके सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है। सभ्यता मनुष्य के वाह्य प्रयोजनों को सहजलभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत आंतर आनंद की अभिव्यक्ति। परंतु शायद फिर मैं पहेलियों की बोली बोलने लगा हूँ। आप जानना चाहेगे

कि यह बाह्य प्रयोजन और आंतर आभ्यन्तरिक कहा जाता है ? किसको तुम बाह्य कहते हो और किसको आंतर, तुम्हारे कथन मे प्रमाण क्या है ?

यह जो हमारे बाह्य करण है —कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय है—हमारे अत्यंत स्थूल प्रयोजनो के निवर्तक है । मन इनसे सूक्ष्म है, बुद्धि और भी सूक्ष्म है । मन मे हम हजार गज की लम्बाई की भी एकाएक धारणा नही कर सकते । पर बुद्धि द्वारा ज्योतिषी कोटि-कोटि प्रकाश-वर्षों मे फैले हुए ग्रह-नक्षत्रो की नाप-जोख किया करते है । परन्तु बुद्धि भी बड़ी चीज नही है । बुद्धि से भी बढ़कर कोई वस्तु है । वही अंतरतम है । गीता मे कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मन. ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

जो वस्तु केवल इंद्रियो को संतुष्ट कर सके, वह बहुत महत्वपूर्ण नही है । जो वस्तु मन को संतुष्ट कर सके, अर्थात् हमारे भावावेगो को संतोष दे सके, वह पहली से सूक्ष्म होने पर भी बहुत बड़ी नही है । जो बात बुद्धि को संतोष दे सके, वह जरूर बड़ी है, पर वह भी बाह्य है । बुद्धि से भी परे कुछ है । वही वास्तव है, उसका संतोष ही काम्य है ! परन्तु वह क्या है ? मै भारतीय मनीषा के इस मतव्य तक आपको ले आकर यह आशा नही कर रहा हूं कि आप शास्त्र-वाक्य पर विश्वास कर लें । मैं इसके निकट आपको ले आकर छोड़ देता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि यहाँ तक आकर आप इसकी गहराई मे बैठने का प्रयत्न अवश्य करेंगे । जब तक इसकी गहराई मे बैठने का प्रयत्न नही किया जाता, तब तक मनुष्य के बड़े-बडे प्रयत्नो का रहस्य समझ मे नही आएगा ।

तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में वरुण के पुत्र भृगु की मनोरजक कथा दी हुई है । भृगु ने जाकर वरुण से कहा था कि भगवन् मै ब्रह्म को जानना चाहता हूँ । पिता ने तप करने की आज्ञा दी । कठिन तपस्या के बाद पुत्र ने समझा—अन्न ही ब्रह्म है । पिता ने फिर तप करने को कहा । इस बार पुत्र कुछ और गहराई मे गया । उसने प्राण को ही ब्रह्म समझा । पिता को संतोष नही हुआ । उन्होने पुत्र को पुनः तप करने के

लिए उत्साहित किया। पुत्र ने फिर तप किया और समझा कि मन ही ब्रह्म है। पिता फिर भी असंतुष्ट ही रहे। फिर तप करने के बाद पुत्र ने अनुभव किया—विज्ञान ही ब्रह्म है। पर पिता को अब भी संतोष नहीं हुआ। पुनर्वार कठिन तप के बाद पुत्र ने समझा—आनन्द ही ब्रह्म है। यही चरम सत्य था। इस प्रकार अन्न (भौतिक पदार्थ)—प्राण—मन—विज्ञान—(बुद्धि)—आनंद (अध्यात्म तत्त्व)—ये ही ज्ञान के पाँच स्तर है। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। इन्हीं पाँचों को आश्रय करके संसार के भिन्न-भिन्न दार्शनिक मत बने हैं। साधारणतः इनको आश्रय करके दो-दो प्रकार के मत बन जाते हैं। तर्काश्रित मत और विश्वास समर्पित मत। संदेह को उद्रिक्त करनेवाला तर्काश्रित मत फिलासफी का प्रतिपाद्य मत बन गया है और विश्वास को आश्रय करके श्रद्धा को उद्रिक्त करनेवाला मत धर्म-विज्ञान का। भारतवर्ष का इतिहास अन्य देशों से कुछ विचित्र रहा है। सभ्यता के उषाकाल से लेकर आधुनिक काल के आरम्भ तक हमारे इस देश में नाना मानव-समूहों की धारा बराबर आती रही है। इसमें सभ्य, अर्ध-सभ्य और बर्बर सभी श्रेणी के मनुष्य रहे हैं। भारतीय मनीषी शुरू से ही मनुष्य के बहुविध विश्वासों और मतों को जानने का अवसर पा सके हैं। इसलिए यहाँ धर्म-विज्ञान और तत्त्व-जिज्ञासा कभी परस्पर विरोधी मत नहीं माने गए। भारतीय ऋषि ने दोनों का उचित सामंजस्य किया है। शायद इस विषय में भारतवर्ष सारे संसार को कुछ दे सकता है। भारतवर्ष के दार्शनिक साहित्य के आलोचकों को आश्चर्य हुआ कि इस देश में उस चीज का कभी विकास हो ही नहीं हो पाया जिसे फिलासफी कहते हैं; भारतवर्ष के दर्शन धर्म पर आधारित बताए गए हैं। 'दर्शन' शब्द का अर्थ ही देखना है। इसका अंतर्निहित अर्थ यह है कि 'दर्शन' कुछ सिद्ध महात्माओं के देखे हुए (साक्षात्कृत) सत्यों का प्रतिपादन करते है। जैसा कि हमने अभी लक्ष्य किया है, यह 'देखना' तब वास्तविक होगा जब वह केवल इंद्रिय द्वारा, प्राण द्वारा, मन द्वारा यहाँ तक कि बुद्धि द्वारा भी दृष्ट स्थूल तथ्यों को पीछे छोड़कर उस वस्तु के द्वारा देखा गया हो, जो आनंदरूप है, जो सबके परे और सबसे सूक्ष्म है। यही स्वसंवेद्य ज्ञान है परन्तु यह नहीं सम-

जानना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ भी अनुभव करता है, वह सत्य ही है। शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक है। जब तक मनुष्य का बाहर और भीतर शुद्ध, निर्मल और पवित्र नहीं होते, तब तक वह गलत वस्तु को सत्य समझ सकता है। चंचल मन से कोई मामूली समस्या भी ठीक-ठीक समाहित नहीं होती। यह जो बाह्य और अंतःकरणों की शुद्धि है, यही भारतीय दर्शनों की विशेषता है। जैसे-तैसे रहकर, जैसा-तैसा सोच-कर बड़े सत्य को अनुभव नहीं किया जा सकता। चंचल चित्त केवल विकृत चिन्ता में ही लगा रहता है। भारतीय मनीषियों ने इस चंचल चित्त को वश में करने के उपाय बताए हैं। इसी उपाय का नाम योग है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि यद्यपि मन बड़ा चंचल है और उसे वश में करना कठिन है, तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। अभ्यास और वैराग्य के लिए भारतीय साहित्य में शताधिक ग्रन्थ वर्तमान हैं। संभवतः सारे संसार के बुद्धिजीवी इस विषय में यहाँ से कुछ सीख सकते हैं। केवल बौद्धिक विश्लेषण द्वारा सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। सर्वत्र अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है।

हमने अभी जिन पांच तत्त्वों को लक्ष्य किया, उनमें सबसे स्थूल है यह शरीर, फिर प्राण और फिर मन। शरीर का प्रतीक बिन्दु है। भारतीय मनीषियों ने अनुभव किया है कि इनमें से किसी एक को संयत करने का अभ्यास किया जाय तो बाकी संयत हो जाते हैं। भारतवर्ष के नाना आध्यात्मिक पंथ इन तीनों को संयत करने के ऊपर जोर देने के कारण अलग-अलग हो गए हैं। संयमन की विधि भी सर्वत्र एक नहीं है। नाना बौद्ध और शाक्त साधनाओं में बिन्दु को वश में करने की विधियाँ बताई गई हैं, हठयोग प्राण को वश में करने के पक्ष में है, राजयोग मन को वश करने की विधि बताता है। ये सब अभ्यास द्वारा सिद्ध होते हैं। ऊपर-ऊपर से देखनेवाले आलोचक भारतीय साधन-मार्गों में इतना अधिक भेद देख सकते हैं कि उन्हें समझ में नहीं आता कि ये विभिन्न पन्थ किस प्रकार अपने को एक ही मूल उद्गम से उद्भूत बताते हैं। गहराई में जानेवाले के लिए ये विरोध नगण्य हैं। नाना भाँति अभ्यास के द्वारा साधक बिन्दु, प्राण और मन को स्थिर करता है। तब जाकर अन्तःकरण

निर्मल स्फटिक मणि के समान होता है। परन्तु यहाँ भी भ्रांति का काश रहता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने केवल अभ्यास क एकमात्र साधन नहीं माना। अभ्यास के साथ वैराग्य होना चाहि राग-द्वेष-वश जो इंद्रिय चांचल्य होता है, उसको रोकना, राग विराग के विषयों को अलग-अलग समझ सकना, मन द्वारा विषयं चिन्ता और अंत में मानसिक उत्सुकता को दबा देना—ये सब वैरा भेद हैं, परन्तु असली वैराग्य तो तब होता है जब अन्तरात्मा स इन्द्रियों से और मन-बुद्धि आदि सब तत्त्वों से अपने को पृथक् लेता है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से चित्त स्थिर होता है बुद्धि निर्मल होती है—केवल उसी समय परम सत्य का साक्षा होता है।

मेरा अनुमान है कि विचार का यह प्रकृष्ट पंथ है, परन्तु यह दावा नही है कि मैं इस बात को ठीक-ठीक समझ सकता हूँ। व यह साधन का विषय है, परन्तु यह समझना कठिन नही कि किसी की सचाई तक पहुँचने के लिए एक प्रकार के बौद्धिक वैराग्य की आ कता है। संसार की समस्त जटिल समस्याएँ नित्य-प्रति और जटि इसलिए होती जाती है कि इन पर विचार करनेवालों में मानसिक और बौद्धिक वैराग्य का अभाव है। लोग अपने-अपने विशेष स और विचार-पद्धतियो के भीतर से दूसरों को देखने का प्रयास कर और समस्याएँ और भी जटिलतर हो जाती है। बौद्धिक वैराग्य ही म को संस्कृत बनाता है।

भारतवर्ष का साहित्य बड़ा विशाल और विपुल है। उसने ज्ञान साधना के क्षेत्र में नाना भाव से विचार किया है। मैं सबकी चर्चा योग्य अधिकारी भी नहीं हूँ और यहाँ इतना समय भी नही है; इतना स्मरण कर लेना उचित है कि यह जो आध्यात्मिक परम-सत्य उपलब्धि है और जिसके लिए शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक और वैराग्य की बात बताई गई है—सिर्फ यही एकमात्र काम्य बताया गया। यद्यपि यह परमोत्तम लक्ष्य है, पर इस लक्ष्य की पू पहले प्रत्येक व्यक्ति को कुछ ऋण चुका लेने पड़ते है। बहुत थोड़े

को इन ऋणों से छुटकारा दिया गया है। अधिकांश लोग इन ऋणों को चुकाए बिना किसी भी बड़ी साधना के अधिकारी नहीं हो सकते।

भारतीय चिन्ताधारा के अनुसार मनुष्य तीन प्रकार के ऋणों को लेकर पैदा होता है! ये तीन ऋण है—देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। पैदा होते ही मनुष्य अपने सम्पूर्ण शरीर और इंद्रियों को पा जाता है। ये इंद्रिया उसे न मिलती तो वह न तो संसार का कुछ आनन्द ही उपभोग कर सकता, न कुछ नया दे ही सकता। निश्चय ही वह माता-पिता के निकट इसके लिए ऋणी है। परन्तु वस्तुतः यह अनादिकालीन धारा का परिणाम पितृ-पितामहो ने उसे जो शरीर दिया है, उसका क्या कोई प्रतिदान दे सकता है? भारतीय मनीषियो ने इसका एकमात्र उपाय यह बताया है कि मनुष्य इसे ऋण के रूप मे स्वीकार कर ले और पितृ-पितामहो की इस धारा को आगे बढा दे। धारा रुद्ध न होने पावे। कौन जानता है, भविष्य मे उसी धारा मे कौन कृती बालक पैदा होकर संसार को नई रोशनी दे? इसीलिए शास्त्रकारो ने पितृऋण से मुक्ति पाने का उपाय संतान उत्पन्न करना और उन्हे शिक्षित बनाकर समाज के हाथो सौंप जाने को बताया है। फिर मनुष्य पैदा होते ही अनेक विद्वानों और विज्ञानियो की आविष्कृत ज्ञानराशि को सहज ही पा जाता है। हर व्यक्ति को नये सिरे से अगर अपना-अपना प्रयोग और आविष्कार चलाना पड़ता तो मनुष्य की यह दुनिया कैसी बन गई होती, यह केवल सोचने की बात है। सो मनुष्य इस प्रकार अतीत के ऋषियो का ऋण लिए हुए पैदा होता है। इसे चुकाने का उपाय ज्ञान की धारा की रक्षा और उसे अग्रसर कर देना है। विद्या पढना और ज्ञानधारा को अग्रसर करना कोई कृतित्व नही, सिर्फ कर्जा चुकाने का कर्तव्य-पालन-मात्र है। फिर अन्न को पैदा करनेवाली पृथ्वी, जल बरसाने वाले मेघ, प्रकाश देनेवाला सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियाँ जिन्हे भारतीय मनीषी 'देवता' कहता है—हमे अनायास मिल गई है। भारतीय मनीषी ने इनके ऋण से मुक्ति पाने का उपाय बाँटकर भोग करना बताया है। जो तुम्हारे पास है, सबको बाँटकर ग्रहण करो। सो ये तीन ऋण मनुष्य के जन्म से ही लदे आते है। इन तीन ऋणो को चुकाये बिना मोक्ष

पाने का प्रयत्न पाप है। भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति से यह कम-से-कम आशा की गई है कि वह समाज को स्वस्थ और शिक्षित सन्तान दे, प्राचीन ज्ञान-परम्परा की रक्षा करे और उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न करे और प्राकृतिक शक्तियों से प्राप्त सम्पदा को निजी समझकर दबा न रखे। ये ऋण हैं। मनुस्मृति के छठवें अध्याय में कहा गया है कि जो इनको चुकाए बिना ही मोक्ष की कामना करता है, वह अतःपतित होता है :

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः ।

जब तक ये ऋण चुका नहीं दिये जाते, तब तक मनुष्य को बड़ी बात सोचने का अधिकार नही है।

भारतवर्ष ने एशिया और यूरोप के देशों को अपनी धर्म-साधना की उत्तम वस्तुएँ दान दी है। उसने अहिंसा और मैत्री का सन्देश दिया है, क्षुद्र दुनियावी स्वार्थों की उपेक्षा करके विशाल आध्यात्मिक अनुभूतियों का उपदेश दिया है और उससे जिन बातों को ग्रहण किया है, वे भी उसी प्रकार महान् और दीर्घस्थायी रही है। उच्चतर क्षेत्र के आदान-प्रदान के ठोस चिह्न अब भी इस भूमि के नीचे से निकलते रहते हैं और विदेशों में मिल जाया करते है। हमारा धर्म, विज्ञान, हमारा मूर्ति और मन्दिर-शिल्प; हमारा दर्शन-शास्त्र, हमारे काव्य और नाटक, हमारी चिकित्सा और ज्योतिष संसार में गए है; सम्मानित और स्वीकृत हुए है और संसार की उच्च चिंतनशील जातियो से थोड़ा-बहुत प्रवाहित भी हुए हैं। मैं आज आपको उस दिव्य लोक की सैर नही करा सका, जहाँ भारतीय आचार्य पर्वतों और रेगिस्तानों को लाँघकर अहिंसा और मैत्री का सन्देश देते हैं, जहाँ हमारे शिल्पी गांधार और यवन कलाकारों के साथ मिल-कर पत्थर में जान डाल रहे हैं, जहाँ अरब और ईरान के मनीषियों के साथ मिलकर वे चिकित्सा और ज्योतिष का प्रचार कर रहे है, जहाँ मलय और यवद्वीप में वहाँ के निवासियो से मिलकर शिल्प और कला में नया प्राण-सचार कर रहे है। मैं उस परम मोहक लोक में आपको न ले

जाकर शास्त्रीय नीरस विचारों मे उलझाए रखा; परन्तु इसके लिए मुझे क्षमा मांगने की जरूरत नहीं है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि भारतीय मनीषियों ने अपने देशवासियों में जीवन के आवश्यक कर्तव्य और वैराग्य की महिमा और मूल्य को अपेक्षा सुख की ओर झुकने का प्रेम पैदा किया, उसका ही परिणाम है कि भारतवर्ष दीर्घकाल तक पशु-सुलभ क्षुद्र स्वार्थों का गुलाम नहीं बन सका। आज हम सांस्कृतिक दृष्टि से जो बहुत नीचे गिर गए है, उसका प्रधान कारण यही है कि हम इस महान् आदर्श को भूल गए है। मेरा विश्वास है कि इन आदर्शों को नई परिस्थितियो के अनुकूल बनाकर ग्रहण करने से हम तो ऊपर उठेंगे ही, सारे संसार को भी उनमे कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य मिलेगा जिससे उसे वर्तमान प्रलयकार अवस्था से उबरने का मौका मिले।

भारतवर्ष ने सामान्य मानवीय संस्कृति को पूर्ण और व्यापक बनाने की जो महती साधना की है, उसके प्रत्येक पहलू का अध्ययन और प्रकाशन हमारा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य होना चाहिए।[1]



---

१. बिहार प्रान्तीय संस्कृति-सम्मेलन, मंदार, भागलपुर में दिया गया भाषण।

साधारणीकरण

काव्य में वर्णित विशिष्ट रामादि पात्रों के 'भाव' सर्वसाधारण या कम से कम 'सहृदय-साधारण' के आस्वाद के विषय किस प्रकार हो जाते हैं?—काव्यशास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है। काव्य मानव-जीवन का अत्यन्त प्राचीन एवं मूल्यवान् उपकरण है : वह सहस्राब्दियों से संस्कृत मानव की आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मास्वाद का सुन्दर माध्यम रहा है। ज्यों ही चिंतनशील मनुष्य ने जीवन और जगत् के अनेक तथ्यों के साथ-साथ काव्य के आस्वाद के विषय मे विचार आरम्भ किया होगा, पहला प्रश्न यही उठा होगा कि राम और दुष्यन्त आदि से हमारा क्या सम्बन्ध ? जब देश और काल का विराट् व्यवधान हमारे और उनके बीच विद्यमान है, तब उनके भाव हमारे आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं ? इस प्रश्न का सबसे प्रामाणिक समाधान है साधारणीकरण-सिद्धान्त जिसके बीज तो 'नाट्यशास्त्र' आदि में भी मिल जाते हैं—यथा 'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है,' परन्तु निश्चित उल्लेख भट्टनायक के उद्धरणों में ही पहली बार मिलता है।

भट्टनायक के उद्धरण का अभीष्ट अंश इस प्रकार है—

विभावादिसाधारणीकरणात्मना × × × भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः × × × भोगेन परं भुज्यत इति।"

—अर्थात् विभावादि के साधारणीकरणरूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायिभावरूप रस × × × भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है।

इसका विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं :

---

१. नाट्यशास्त्र, का० मा०, पृष्ठ ४०६।

(क) साधारणीकरण विभावादि का होता है।

(ख) यह साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है—अर्थात् दोनों एक ही हैं।

(ग) भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस-रूप में परिणत हो जाता है। भाव्यमान को 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार ने 'साधारणीकृत' का ही पर्याय माना है और इसमें विप्रतिपत्ति के लिए विशेष अवकाश नही होना चाहिए।

(घ) साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप मे प्रस्तुत कर देती है।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत मे संशोधन कर साधारणीकरण के प्रसंग को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है: उनके उद्धरण इस प्रकार है—

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्।

—अर्थात् काव्य की उस प्रतीति मे जो मृगशावक आदि विषय रूप से भासता है, उसके विशेष रूप न होने से, 'यह भीत है' यह ज्ञान तथा त्रासक (दुष्यन्त आदि) के वास्तविक न होने से, भय ही देशकाल आदि से पूर्णतः असम्बद्ध रूप मे प्रतीत होता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि आश्रय और आलम्बन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भाव ही देशकाल के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त लिखते है—

तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षण निर्विघ्न-प्रतीतिग्राह्य × × × भयानको रसः।

—इसीलिए 'मै भीत हूँ,' 'यह भीत है' या 'शत्रु, मित्र अथवा तटस्थ भीत है,' इत्यादि सुख-दुःखकारी अन्य प्रत्ययो (ज्ञान) को नियमतः उत्पन्न करने के कारण विघ्न-बहुल प्रतीतियो से भिन्न, निर्विघ्न प्रतीति-रूप मे ग्राह्य [भय स्थायी भाव ही] भयानक रस बन जाता है।

अर्थात् काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है—ये व्यक्ति-संसर्ग अपनी परिमिति के कारण दुःखादि के कारण होते हैं, अतः इनसे मुक्ति का अभिप्राय होता है लौकिक दुःख-सुख आदि की चेतना से मुक्ति।

यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है—अनादि संस्कारों मे चित्रित चित्तवाले समस्त सामाजिकों की एक-जैसी वासना होने के कारण सभी को एक-जैसी ही प्रतीति होती है—

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम्.........अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः .... सर्वेषामनादिवासना-चित्रीकृतचेतसाम् वासनासंवादात्।

—इस प्रकार, एकाग्रचित्त होने के कारण, समस्त सामाजिक जन को रंगमंच पर उपस्थित नृत्त, गीत आदि सुधासागर के समान प्रतीत होते हैं—

तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु। नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते॥

इन उद्धरणों के आधार पर अभिनव के अनुसार—

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायी भाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं, उसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणी-करण का कारण होता है।

(ख) स्थायी भाव के साधारणीकरण का अर्थ है देशकाल के बन्धन, व्यक्तिसंसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुख-दुःखात्मकता का समावेश रहता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिय सुख-दुःख की भावना भी नष्ट हो जाती है।

(ग) कला के क्षेत्र मे भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नहीं वरन् सामूहिक क्रिया है, केवल एक प्रमाता का ही भाव मुक्त नही होता—वरन् समस्त सामाजिक एकाग्रचित होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते है।

(घ) अतः साधारणीकरण का सार है स्थायी भाव का साधारणीकरण।

उपर्युक्त संशोधन के प्रकाश में 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार गोविन्द ठाकुर ने भट्टनायक के साधारणीकरण-सिद्धान्त को संक्षिप्त एवं स्वच्छ रूप में इस प्रकार उपस्थित किया है—

भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्योपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन।[1]

—अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।

---

१. काव्यप्रकाश, निर्णयसागर प्रेस, पृष्ठ ६६।

२. इस प्रसंग में कुछ विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। (देखिए 'रस-गंगाधर का शास्त्रीय विवेचन पृ० १५४-१५८')। विषय के निर्भ्रान्त ज्ञान के लिए समाधान कर लेना चाहिए। एक विप्रतिपत्ति तो यह है कि साधारणीकरण भावकत्व की आत्मा या मूल तत्व है पर्याय नहीं है। इसके समर्थन में दो तर्क दिए गये हैं—(१) भट्टनायक ने 'साधा-रणीकरणात्मना' पद का प्रयोग किया है, 'साधारणीकरणरूपेण' का नहीं, (२) भावकत्व व्यापार का कार्य विभावादि का साधारणीकरण मात्र नहीं है, निजमोहसंकटता का निवारण भी है। हमारा विचार है कि इतना बारीक कातने से मूल सिद्धान्त के प्रतिपादन में बाधा पड़ती है। पहला तर्क शाब्दिक अधिक है, दोनों पदों के मूल अर्थ में विशेष भेद नहीं है, दूसरे तर्क का उत्तर यह है कि निजमोहसंकटता का निवारण भी तो साधारणीकरण-प्रक्रिया का ही अंग है जिसके आधार पर आगे चलकर स्थायी भाव के (निर्विघ्न प्रतीतिरूप) साधारणीकरण की व्यवस्था की गयी है। दूसरी विप्रतिपत्ति भट्टनायक के ही कुछ ऐसे वाक्यों को लेकर उपस्थित की गयी है जो उपर्युक्त

इस व्याख्या के अनुसार विभाव अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन अनुभव, स्थायी या संचारी (स्थायी के द्वारा संचारी की व्यंजना स्पष्ट ही है)—सभी का साधारणीकरण होता है। उदाहरण से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाएगी—

भूप बागु वर देखेउ जाई। जहँ वसंत रितु रही लोभाई।
लागे विटप मनोहर नाना। वरन वरन वर वेलि विताना।
नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज सम्पति सुररूख लजाए।
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत विहग नटत कल मोरा।
मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनि सोपान विचित्र वनावा।
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जल-खग कूजत गुंजत भृंगा।

× × ×

स्थापनाओं के विरोधी प्रतीत होते हैं। ये वाक्य इस प्रकार हैं—

न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात् देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समद्रलंघनादेरसाधारण्यात्।"

अर्थात् वह प्रतीति मान्य नहीं है। वास्तविक सीतादि के विभावरूप में उपस्थित न होने से। अपनी स्त्री आदि की स्मृति अभिनय-काल में न होने से। देवतादि (सीता, पार्वती आदि पूजनीया देवियों के साधारणीकरण के अयोग्य होने से। समुद्रलंघन आदि के असाधारण होने से। (हि०अ०भा०, पृ० ४६२-६३) इन वाक्यों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो भट्टनायक को अलौकिक पात्रों और कार्यों का साधारणीकरण मान्य नहीं है। किन्तु स्थिति बिलकुल विपरीत है; भट्टनायक तो उसे मानकर ही चलते हैं चूंकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है, इसीलिए रस की [प्रत्यक्ष] प्रतीति असिद्ध हो जाती है। उनका तर्क स्पष्ट है: यदि रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मान ली जाए तो सीतादि देवियों का और समुद्रलंघन आदि देवकार्यों का साधारणीकरण नहीं हो सकेगा, परन्तु चूँकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है इसलिए रस की प्रतीति असिद्ध है।

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई।

× × ×

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदयँ गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।
देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा।

× × ×

सिय सोभा हिअँ बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि॥

तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकासु फिरहि फुलवाई।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा।
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।

× × ×

करत बतकही अनुज सन, मनु सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छबि, करै मधुप इव पान॥[1]

यहाँ राम आश्रय हैं, सीता आलम्बन है, वासन्ती वैभव से समृद्ध जनक-वाटिका उद्दीपन है, राम के पुलक आदि अनुभाव हैं, रति स्थायी है और हर्ष, वितर्क मति आदि संचारी हैं। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग की रसास्वादन-प्रक्रिया मे इन सभी का साधारणीकरण हो जाता है। आश्रय राम के साधारणीकरण का अर्थ यह है कि वे राम न रहकर रति-मुग्ध सामान्य पुरुप वन जाते हैं—उनके देश और काल तथा उनसे अनुवद्ध वैशिष्ट्य तिरोभूत हो जाते है और नारी के सौन्दर्य से अभिभूत सामान्य किशोर मन उभरकर सामने आ जाता है। आलम्बन सीता के साधारणीकरण का आशय भी वहुत कुछ ऐसा ही है।—अर्थात् उनका भी देशकालावच्छिन्न वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है और सामान्य

१. रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२६-२३१

कामिनी रूप शेष रह जाता है। अनुभाव के साधारणीकरण से अभिप्राय यह है कि राम की चेष्टाएँ राम से सम्बद्ध न रहकर सामान्य मुग्ध पुरुष की चेष्टाएँ बन जाती हैं। इस प्रकार रत्यादि स्थायी भाव और हर्ष, वितर्क आदि संचारी भाव भी एक ओर राम-सीता से और दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आलम्बन से सम्बद्ध नही रह जाते—वे वैयक्तिक रागद्वेष से मुक्त हो जाते हैं। उपर्युक्त प्रसंग में जो रति स्थायी भाव है वह न राम की सीता के प्रति रति है, न सहृदय की सीता के प्रति और न सहृदय की अपने प्रणय-पात्र के प्रति—यह तो निर्मुक्त रति भाव है जिसमें स्व-पर की चेतना निश्शेष हो चुकी है। मूलतः यह सहृदय का ही स्थायी भाव है, परन्तु साधारणीकृति के कारण व्यक्ति-चेतना से निर्मुक्त हो गया है। इस प्रकार रस के अवयवों में जो मूर्त है वे विशेष से सामान्य बन जाते है और जो अमूर्त भाव-रूप है वे व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाते है—विभावों की देशकाल के वन्धन से मुक्ति होती है और भावों की स्व-पर की चेतना से।

संस्कृत के परवर्ती शास्त्रकार प्रायः इसी मत की आवृत्ति करते रहे—केवल दो आचार्यों—विश्वनाथ और जगन्नाथ—के विवेचन में वैचित्र्य के कुछ संकेत मिलते है। विश्वनाथ ने वैसे तो स्थायी भाव और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है—

> साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।
> परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च॥ सा० द०—३.१२॥
> तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते। ३.१३ का पूर्वार्ध॥

—शृङ्गारादि रसों के स्थायी भाव रति आदिक भी काव्य-नाट्यादि मे सामान्य रूप से प्रतीत होते है। रसास्वाद के समय विभावादिकों का ये (विभावादि) मेरे हैं अथवा मेरे नहीं है—अन्य के है अथवा अन्य के नही है,' इस विशेष रूप से परिच्छेद अर्थात् सम्वन्ध-विशेष का स्वीकार अथवा परिहार नही होता है।

किन्तु उन्होंने आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को औरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ॥ ३.९॥
तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते । ३.१० ॥
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति ॥ ३.११ ॥

—यही साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्रलंघन करनेवाले हनुमान् आदि से अभिन्न समझने लगता है। (हनुमान् आदि के साथ) साधारण्याभिमान अर्थात् अभेद-ज्ञान हो जाने पर मनुष्यों का भी समुद्रलघन आदि मे उत्साह दूषित नही है।

इसका सारांश यह है कि साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव से प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है—सामान्य आश्रय के साथ ही नही वरन् अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देवादि के साथ भी। उदाहरण के लिए, लौकिक परिस्थिति में सामान्य जन के लिए समुद्रलंघन के उत्साह का अनुभव सम्भव नहीं है, किन्तु काव्य-नाट्यादि मे, साधारणीकरण के प्रभाव से उसका हनुमान आदि के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण, इस प्रकार का उत्साह भी सहज सम्भव हो जाता है। यह प्रसग अभावात्मक रूप में भट्टनायक ने भी उठाया था—विश्वनाथ ने भावात्मक रूप में उसे और भी उभारकर सामने रखा है। पडितराज जगन्नाथ ने भी नव्यन्याय के आलोक मे प्रकारान्तर से आश्रय के साथ तादात्म्य का ही कथन किया है, किन्तु इस संदर्भ में उन्होंने 'दोप' शव्द का प्रयोग अधिक शुद्ध माना है—

"काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेपु विभावादिषु, व्यंजन-व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तर च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेपरूपस्य दोपस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्ड, समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविपयकरत्यादिरेव रसः।"[1]

---

१. हिन्दी-रसगंगाधर, प्रथम अध्याय, पृष्ठ १०१।

—इसका अभिप्राय यह है कि पहले तो हमे काव्य और नाटक में कवि तथा नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि का ज्ञान होता है। फिर व्यंजना-व्यापार के द्वारा यह प्रतीति होती है कि दुष्यंत शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इसके उपरान्त सहृदयता के कारण हमारे चित्त में एक प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् हम अपनी सहृदयता के कारण दुष्यं-तादि के विषय में पुनः-पुनः अनुसंधान करने लग जाते हैं। यह भावना एक ऐसा दोष है जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यंतत्व आदि से आच्छा-दित हो जाती है, अर्थात् उस समय हम अपने को दुष्यंत समझने लगते है—"और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नही रह जाती अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित शकुन्तलाविषयक रति भी भासित होने लगती है जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीपी के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते है—वास्तविक रूप में नहीं समझ पड़ते; तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि न हममें शकुन्तला आदि की रति वास्तविक रूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन, तथापि साक्षी आत्मा उनका भान करा देती है।[1]

---

१. वस्तुतः पंडितराज ने सामान्य रूप से साधारणीकरण को स्वीकार नहीं किया—

"यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम् तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्।"

—अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यो ने विभावादि के साधारणी-करण का कथन किया है, फिर भी यह बात दोष-विशेष की कल्पना के बिना बन नहीं सकती क्योंकि काव्यों में शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन रहता है और जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं, फिर कान्तात्वेन उनका

बात यह भी वही है जो विश्वनाथ ने कही है, किन्तु उस पर दर्शन का वर्क चढ़ा हुआ है। पंडितराज के दार्शनिक विधान में साधारणीकरण के लिए स्थान नहीं है — यहाँ तो 'भ्रम' है : भावनादोष है। किन्तु दर्शन के आवरण को हटाकर देखें तो वे भी आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य और सहानुभूति की ही बात कर रहे हैं : कवि की भावनामय कल्पना से सामाजिक की सहृदयता (भावना-कल्पना) उद्बुद्ध हो जाती है और वह आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ समान भाव की अनुभूति करता है। लौकिक-अलौकिक का व्यवधान वहाँ नहीं रहता — दुष्यन्त के साथ तादात्म्य होने से जिस प्रकार वह (कल्पित) रति का अनुभव करता है, इसी प्रकार हनुमान् की भावना से आच्छादित होने के कारण वह समुद्रलंघन के उत्साह का भी अनायास ही (कल्पित) अनुभव कर लेता है।

पंडितराज के बाद गम्भीर शास्त्रीय विवेचन का क्रम प्रायः समाप्त ही हो गया। हिन्दी के रीति-कवियों का अनुराग काव्यशास्त्र के रोचक एवं सरल प्रसंगों तथा कवि-शिक्षा तक ही सीमित रहा—साधारणीकरण आदि तात्त्विक विषयों के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण नहीं था। अतः काव्यशास्त्र के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विषय का विवेचन गति-रुद्ध पड़ा रहा और लगभग तीन शताब्दियों के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध लेख 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद'[1] में सहसा इसका पुनरुद्धार किया। शुक्ल जी का यह लेख भारतीय काव्य-शास्त्र-विषयक अनुसंधान का परिच्छेद या अंग न होकर स्वतन्त्र चिंतन का ही परिणाम है। उनकी दृष्टि अतीत पर न होकर वर्तमान पर ही

बोध कैसे हो सकता है? (हिन्दी रसगंगाधर, प्र० आ०, पृ० १०५) कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अस्वीकृति केवल शाब्दिक या सैद्धान्तिक है, व्यवहार में साधारणीकरण का निषेध यहाँ भी नहीं है।

१. यह लेख प्रथम वार सन् १९३३ में 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में प्रकाशित हुआ था।

स्थिर है और उन्होने इस प्राचीन सिद्धान्त की अपने अभिमत 'लोक-धर्मसिद्धान्त' के समर्थन में ही उद्धृति एवं व्याख्या की है। अतः इस लेख में साधारणीकरण-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन नहीं, पुनराख्यान ही प्रमुख है और इसी रूप में इसकी स्थापनाओं का मूल्यांकन करना चाहिए।

विवेच्य विषय से सम्बद्ध शुक्ल जी के उद्धरण इस प्रकार हैं—

१. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।[1]

२. (क) काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नही, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नही।

(ख) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(ग) जिस व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति विशेष ही उपस्थित रहता है।[2]

३. कल्पना मे मूर्ति तो विशेष ही की होगी पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाये जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।[3]

४. 'व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। × × × विभावादि

१-२-३. चिंतामणि, भाग (१) १९५७—पृष्ठ २२७-२३०।

सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।"

५. साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरितार्थ होता है।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कतिपय तथ्य प्रकाश में आते हैं—

साधारणीकरण का विवेचन करते समय भट्टनायक और अभिनवगुप्त के अभिमत शुक्ल जी के सामने नहीं थे—केवल विश्वनाथ का मत ही उनके सामने था। उसका उन्होंने शास्त्रीय विवेचन न कर केवल स्वतन्त्र चिन्तन या अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रयोगमात्र किया है। पहला तथ्य शुक्ल जी की सामयिक परिसीमा का द्योतक है और दूसरा उनकी मौलिक प्रतिभा का।

वे मूलतः आलम्बन का साधारणीकरण मानते है। आलम्बन का अर्थ है भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त-सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है।

आलम्बन के साधारणीकरण का अर्थ यह नही कि उसका व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है—अर्थात् वह व्यक्ति न रहकर जाति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व तो बना रहता है, पर उसमें कुछ ऐसे गुणो का समावेश हो जाता है जिनके कारण वह समस्त सहृदय-समाज के उसी भाव का विषय बन जाता है—अर्थात् सीता कामिनीमात्र बनकर रह जाती है, यह बात नही, वरन् वे अपने शील-सौन्दर्य आदि सामान्य गुणो के कारण सभी के प्रेम का विषय बन जाती है। आलम्बन का व्यक्तित्व बना रहे और फिर भी उसका साधारणीकरण हो जाए—इस विषमता का समा-

१. रस-मीमांसा, पृष्ठ ९९।

धान करने के लिए शुक्ल जी अपनी मूल स्थापना में थोड़ा संशोधन करते हुए कहते है कि साधारणीकरण वस्तुतः आलम्वन-धर्म का होता है, अर्थात् उन सामान्य गुणों का होता है जिनके कारण सीता राम को प्रिय लगती है। यहाँ कई बातें उलझ जाती है : सीता केवल कामिनी नहीं है, व्यक्ति है; वे राम की प्रिया है किन्तु राम के प्रेम का आधार उनके शील-सौन्दर्य आदि ऐसे सामान्य गुण है जो समस्त सहृदय-समाज में रति भाव उत्पन्न करते है; सीता राम की प्रिय है, किन्तु प्रेम का आधार चूंकि सीता के सामान्य गुण ही है, अतः वे सहृदय समाज को भी प्रिय है—अर्थात् सहृदय-समाज के प्रेम का विषय सीता व्यक्ति नही वरन् उस व्यक्ति के शील-सौन्दर्य आदि गुण है। शुक्ल जी के सामने वास्तव में अपने दो सिद्धान्तों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या उपस्थित हो गयी है, (१) काव्य का विषय (आलम्वन) विशिष्ट होता है, और (२) काव्य का आस्वादन भाव की सामान्य भूमिका पर होता है। इस समस्या का समाधान उन्होंने अपने बुद्धि-वल से इस प्रकार कर लिया है : आलम्बन के वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए समर्थ कवि, जिसे लोक-हृदय की पहचान होती है, सामान्य गुणों के आधार पर उसका साधारणीकरण कर लेता है। निदान, सहृदय सीता के प्रति अनुरक्त हो जाता है परन्तु उसके हृदय मे यह भेदभाव नहीं रहता कि सीता राम के प्रेम की आलम्वन है या उसके अपने प्रेम की। सहृदय का चित्त व्यक्ति-चेतना से मुक्त हो जाता है।

पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग का उदय होता है, फिर वह आश्रय के द्वारा उसे व्यक्त करता है और अन्त में काव्य का आस्वादयिता समस्त सहृदय-समाज उस भाव का अनुभव करता है। अभिनव के गुरु भट्टतोत का भी यही मत है—"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।"

शुक्ल जी के मत का सार कदाचित् यही है—यहाँ हमने उन्हीं के मत को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, उसके सत्यासत्य का निर्णय वाद मे करेंगे।

यह मत भारतीय काव्यशास्त्र के स्वीकृत सिद्धान्त से थोड़ा भिन्न है।

इसीलिए संस्कृत के शास्त्रविद् पंडितों ने इस पर आक्षेप किये हैं। पंडित केशवप्रसाद मिश्र ने शुक्ल जी के इस मन्तव्य को 'भ्रम' की संज्ञा देते हुए लिखा है—

"साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाये। विभाव, अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोक-सामान्य होना दो अर्थों मे माना जा सकता है। एक तो स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम अथवा उद्देश्य मे सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था मे विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृंखलाबद्ध हो जाएँगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायेगी। परिणामतः अन्तिम ध्येय में सामान्यता (साधारणीकरण) मानने के भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक तो बौद्धिक या द्वैतवादी जिसमे काव्य को नैतिक और अनैतिक के द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसास्वाद किया जाता है और दूसरा मनोवैज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक जिसमे नैतिकता का प्रश्न पृथक् नही रहता, 'ध्वनि' मे अवसित हो जाता है। इनमे पहला प्रकार भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' के अनुकूल पड़ता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से सम्बन्धित है। कहने की आवश्यकता नही कि उक्त विद्वान पहले प्रकार के समर्थक है, किन्तु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हे। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।"[1]

केशव जी ने अपना मन्तव्य अन्त मे सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। वे अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण से अभिप्राय चित्तवृत्तियो के साधारणीकरण का ही मानते है: सहृदय का चित्त जब एकतान हो जाता है तो उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। विभाव का साधारणीकरण ही वास्तविक एव पूर्ण है। अभिनव ने अपने अद्वैत सिद्धांत

---

१. साहित्यालोचन, डॉ० श्यामसुन्दरदास (१९६६), पृष्ठ २८४-८५ पर उद्धृत।

के आधार पर इसी अखण्ड चेतना में साधारणीकरण का अनुसंधान किया था। विभाव पर बल देने का अर्थ है विषय की सत्ता की महत्त्व-प्रतिष्ठा अर्थात् द्वैत की प्रतिष्ठा और द्वैतवादी रस-कल्पना का आधार मूलतः बौद्धिक एवं नैतिक ही रहेगा। इस प्रकार केशव जी आचार्य शुक्ल की रस-दृष्टि को द्वैतवादी भट्टनायक के भुक्तिवाद के साथ सम्बद्ध कर उसे उतने ही अनुपात मे अपूर्ण मानते है। अभिनव के अनुसार रस आध्यात्मिक प्रक्रिया है और केशव जी भी इसी आध्यात्मिक कल्पना में रस-दृष्टि की पूर्णता मानते हैं। उनके आक्षेप का सारांश यह है : विभाव बद्ध या सीमित है, भाव मुक्त या असीम, अतः विभाव का साधारणीकरण अपूर्ण एवं सीमित है—वह बौद्धिक एवं नैतिक है जबकि भाव का साधारणीकरण चित्त की मुक्ति अथवा संविद्विश्रान्ति का पर्याय है, अतः वह पूर्ण है। पं० केशवप्रसाद मिश्र का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म एवं तात्त्विक है। उन्होंने आचार्य शुक्ल की विभावनिष्ठ दृष्टि तथा नैतिक चेतना के संबंध का उद्घाटन अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है और अन्ततः उसे अभिनवगुप्त के अद्वैत की अपेक्षा भट्टनायक के द्वैत-सिद्धान्त के सन्निकट माना है। फिर भी उनके सभी निष्कर्ष यथावत् ग्राह्य नहीं है। यह तो ठीक है कि प्राचीन आचार्यो मे भट्टनायक के दृष्टिकोण के द्वैत का आधार होने से विषय की सत्ता की स्वीकृति है और चूँकि उन्होंने ही सबसे पहले रसास्वाद के प्रसग में नैतिक प्रश्न उठाया है, अतः यह भी कल्पनासंगत ही है कि उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक या शुद्ध आनन्दवादी न होकर नैतिक आधार लिये हुए है। ये दोनों तत्त्व ऐसे है जो शुक्ल जी के दृष्टिकोण में भी विद्यमान है, अतः उनका मत भट्टनायक के अनुकूल है, यह निष्कर्ष भी अशुद्ध नही है। किन्तु भट्टनायक और शुक्ल जी के मन्तव्यों में कुछ स्पष्ट भेद भी है—(१) उदाहरण के लिए भट्टनायक ने सभी का साधारणीकरण माना है, आलम्बन पर बल नही दिया। (२) निजकान्ता-स्मृति की सत्ता को उन्होने रसास्वाद की प्रक्रिया मे सर्वथा अस्वीकृत कर दिया है, पर शुक्ल जी विकल्प रूप मे यह भी मान लेते हैं कि "यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृङ्गार रस की फुटकल उक्तियां सुनने के समय रह रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी

नायक के मत से विषय के समस्त अंगों का साधारणीकरण होता है और परिणामतः प्रमाता के स्थायी भाव का भी। यही मौलिक सिद्धान्त है, परन्तु मूल सिद्धान्त की समीक्षा करने से पूर्व इसके विषय में प्रस्तुत संशोधनों पर विचार करना अधिक उपयोगी होगा।

आश्रय के साथ तादात्म्य—साधारणीकरण की प्रक्रिया में, जहाँ रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण होता है, आश्रय का साधारणीकरण भी अन्तर्भूत है—अर्थात् जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, आश्रय का साधारणीकरण भी समस्त प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। किन्तु आश्रय के साधारणीकरण और प्रमाता द्वारा आश्रय के साथ तादात्म्य की अनुभूति में अन्तर है। पहले का अर्थ यह है कि राम या हनुमान् अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति न रहकर सामान्य पुरुष बन जाते है और दूसरे का अर्थ यह है कि प्रमाता उन क्षणो मे अपने को राम या हनुमान् समझने लगता है और धनुर्भंग अथवा समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कृत्यो के प्रति उसके मन में उत्साह जाग्रत हो जाता है। एक में राम या हनुमान् का सामान्य मानव-धरातल पर उतरना विवक्षित है और दूसरे में प्रमाता का उठकर विशेष अलौकिक धरातल पर पहुँचना। किन्तु आश्रय के साधारणीकरण का आशय यह नही है कि ये अपने गौरव से वंचित होकर जनसाधारण के स्तर पर उतर आते है। ऐसा मान लेने पर तो काव्य द्वारा उदात्तीकरण का सिद्धान्त ही खण्डित हो जाएगा। साथ ही उसका यह अर्थ भी नही है कि काव्य मे 'व्यक्ति' का नही 'जाति' या वर्ग का चित्रण होता है और आश्रय अपना व्यक्तित्व खोकर वर्गगत या जातिगत गुणो का प्रतीकमात्र रह जाता है क्योकि इस प्रकार तो काव्य भावना का न रहकर विचार का विषय रह जाएगा और उसकी प्रभावी शक्ति नष्ट हो जाएगी। इसका अर्थ यह है कि आश्रय के गौरव का वैशिष्ट्य—देशकालबद्ध रूप—तिरोहित हो जाता है और सामान्य मानवीय औदात्त्य उभरकर सामने आ जाता है जो सहृदय-समाज के सस्कारो मे भी निसर्गतः विद्यमान है। फिर भी 'प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य' यह नही है, क्योकि तादात्म्य की प्रक्रिया मे आश्रय तो बदलता ही नही : विश्वनाथ के अनुसार प्रमाता अपने में हनुमान का अभिमान करने लगता है—यहाँ तक कि समुद्रलंघन

जैसे अलौकिक कृत्यों के प्रति भी उसमें उत्साह जग जाता है। यह स्थिति प्राचीन मत के अनुसार ग्राह्य नहीं है, वास्तव में इसी प्रकार के अलौकिक पात्रों और उनके कार्यों को सामान्य पाठक के लिए ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से ही तो साधारणीकरण की आवश्यकता और भी होती है। इसके अतिरिक्त 'आश्रय' शब्द का अर्थ तो बहुत व्यापक है। यहाँ आश्रय का व्यक्तित्व प्रेम और भाव मधुर होने के कारण हम थोड़ी देर के लिए सन्देह में पड़ सकते हैं, परन्तु राम और दुष्यन्त या हनुमान् और अंगद ही नहीं रावण और शूर्पणखा भी तो आश्रय हो सकते हैं, अर्थात् आश्रय तो घृणित, क्रूर, भिन्नलिंगी, नीच—हमारे व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है, हम उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे ? यदि प्रेय चरित्रों को ही लें, तब भी तादात्म्य सर्वत्र ग्राह्य नहीं हो सकता, मृतवत्सा शैव्या के साथ तादात्म्य तो शोक का कारण ही हो सकता है रस का नहीं। पंडितराज के अनुसार, भावना-दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व द्वारा सहृदय-चेतना के आच्छादन की प्रकल्पना को भी यदि यथावत् स्वीकार कर लें तब भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। कल्पना के बीच में आ जाने से वास्तविक शोक का आघात कम तो हो सकता है पर इस कल्पित शोक की रस में परिणति नहीं हो सकती। पण्डितराज भी काव्य के चमत्कार के अतिरिक्त इसका कोई तर्कसम्मत उत्तर नहीं दे सके। अतः 'आश्रय के साथ तादात्म्य' की स्वतन्त्र या प्रमुख स्थिति अग्राह्य है, साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के अंगरूप में ही तादात्म्य मान्य हो सकता है।

आश्रय के प्रसंग में ही नायक का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। नायक के साथ प्रमाता का तादात्म्य होता है—"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः" (तोत)। इसमें क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत-काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय के लिए सहज और स्पृहणीय था। काव्य के मूल अर्थ की अभिव्यक्ति कवि प्रायः नायक के माध्यम से ही करता था, अर्थात् कवि स्वयं नायक से तादात्म्य स्थापित कर लेता था, अतः सहृदय-समाज का भी उसके साथ सहज तादात्म्य हो जाता था। इस प्रविधि

मानवात्मा की वह दिव्य कान्ति, जो प्रथा और नीति के आवरण को चीर जीवन के असाधारण क्षणों में कौंध जाती है, इस रस-दृष्टि के घेरे में नहीं आती और केवल मार्टेल के साथ ही नहीं ह्यूगो और तोल्सतोय-जैसे कलाकारों के साथ भी अन्याय हो जाता है।

सहृदय की चेतना का साधारणीकरण—सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निर्मुक्ति रसास्वादन की अन्तिम एवं आधारभूत क्रिया है। किन्तु यह परिणाम है : विभावादि के साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने से अन्ततः प्रमाता की चेतना भी स्वपर की भावना से मुक्त—एकतान—हो जाती है। स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र ने अभिनवगुप्त के प्रमाण से इसी को प्रधानता दी है : "चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे (प्रमाता को) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।"[1] किन्तु यह धारणा यथावत् मान्य नहीं है—चित्त की एकतानता ही तो संविद्विश्रान्ति है और वही रस है, अतः वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती, वह तो कार्य या परिणति है। चित्त के एकतान होने पर तो प्रमाता, अभिनव के अनुसार, आत्मास्वाद-रूप रस का अनुभव करता है, उस समय उसे अन्य पदार्थों की साधारण प्रतीति के लिए अवकाश ही नहीं रहता। साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप, सहचारी या संचारी नहीं है, वह तो कारण है। अतः यह स्थापना भी सर्वथा मान्य नहीं है कि प्रमातृ-चेतना की एकतानता ही वस्तुतः साधारणीकरण है।

सर्वांग का साधारणीकरण—अन्त में हम घूम-फिरकर भट्टनायक के इस मन्तव्य पर लौट आते हैं कि साधारणीकरण वास्तव में सर्वांग का ही होता है। उदाहरण के लिए, ऊपर उद्धृत, 'जनक-वाटिका-प्रसंग' में आश्रय राम, आलम्बन सीता, आश्रय की चेष्टाएँ—अनुभाव, जनकवाटिका का रमणीक वातावरण—उद्दीपन, राम के मन में संचरण करने वाले हर्ष, मति आदि भाव सभी साधारणीकृत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण प्रसंग ही, विशिष्ट देशकाल-बद्ध घटना न रहकर, साधारणीकृत हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता की चेतना भी व्यक्ति-संसर्गों

---

१. साहित्यालोचन—(१९९१ वि०), पृ० २८५।

से मुक्त—साधारणीकृत हो जाती है। किन्तु यह काव्य-प्रसंग तो अपने आप में जड़ वस्तु है—इसका चैतन्य अंश तो इसका 'अर्थ' है और यह अर्थ क्या है ? कवि का संवेद्य—कवि की अनुभूति; सामान्य भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुनः सर्जना की अनुभूति—भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना'। इसी का शास्त्रीय नाम 'ध्वन्यर्थ' है जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उदबुद्ध करता है। काव्य-प्रसंग इसी का मूर्त रूप या बिम्ब है। अर्थ के अनुरूप ही यह बिम्ब सरल अथवा संश्लिष्ट होता है—प्रायः संश्लिष्ट ही होता है। उपर्युक्त बिम्ब निश्चय ही संश्लिष्ट है, उसमें अनेक लघु बिम्बों का समन्वय है। राम के विषय में कवि की भावात्मक कल्पना 'आश्रय राम' के रूप में बिम्बित हुई है, सीताविषयक भावना 'आलम्बन सीता' के रूप में, उनके प्रथम मिलन के पावन-रमणीय वातावरण की भावना 'उद्दीपक जनकवाटिका' के रूप में और राम के मन में उदभूत भावनाओं की कल्पना 'हर्ष, मति आदि संचारियों' के रूप में बिम्बित हुई है। ये छोटे छोटे बिम्ब मिलकर एक संश्लिष्ट बिम्ब का निर्माण करते है जो राम-सीता-प्रथममिलन-विषयक कवि की संश्लिष्ट 'भावना' को शब्द-मूर्त करता है। अतः काव्य प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्बमात्र है—यह काव्य-प्रसंग या बिम्ब शरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है, और, चूंकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान[1] के अधिक अनुकूल है। भट्टनायक की विषयप्रधान धारणा और अभिनव की विषयिप्रधान धारणा—दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है, वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत सम्बन्ध-सूत्र है और वर्तमान युग में रस-सिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें

---

१. कुछ पण्डित-प्रवर मनोविज्ञान से ही चिढ़े हुए हैं, पर इसमें न तो मनोविज्ञान का दोष है और न मेरा।

कोई आपत्ति नहीं है।

पिछले दशक में मेरी इस स्थापना को लेकर काफी विवाद हुआ है और उसके विरुद्ध अनेक प्रकार के तर्क एवं शंकाएँ व्यक्त की गयी हैं। इनमें से अनेक आक्षेप तो पूर्वग्रह अथवा व्यक्तिगत निष्ठा पर आश्रित हैं, अतः उनके पीछे तर्क अथवा सत्यान्वेषण का आग्रह उतना नहीं है। ये आक्षेप तार्किक और उनके समर्थक दया के ही पात्र हैं क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कहना चाहते हैं और क्या कह रहे हैं। किन्तु दो आक्षेप ऐसे हैं जिनका समाधान विषय के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। एक आक्षेप स्वर्गीय डॉ० गुलाबराय का है—वे यह स्वीकार नहीं करते कि सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग (आश्रय-आलम्बन तथा उनसे सम्बद्ध घटना आदि) कवि की अनुभूति का प्रतीकमात्र है, उसकी स्वतन्त्र वस्तुस्थिति नहीं है :

"यद्यपि यह बात किसी अंश मे ठीक है कि राम-सीतादि का रूप विभिन्न कवियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति पर ही आश्रित रहता है तथापि जनता के मन मे भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है, वही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है। जो बात सब के मन में वर्तमान हो वह मानसिक रहती हुई विषयगतता (objectivity) धारण कर लेती है।"[1]

वास्तव में बाबूजी के इस मंतव्य का मेरी स्थापना से कोई विशेष विरोध नही रह जाता, क्योंकि अन्ततः वे भी आलम्बन आदि का अस्तित्व मानसिक या संस्कारगत ही मान लेते है। एक जनकवाटिका-प्रसग 'प्रसन्नराघव' में है और दूसरा 'रामचरितमानस' में—'वाल्मीकि-रामायण' में वह है ही नही। ऐसी दशा मे उसकी वस्तुस्थिति क्या रही? बाबूजी कहेगे कि जनमानस में इस प्रसग का जो 'साधारण' संस्कार विद्यमान है—वही उसका वस्तुगत आधार है। किन्तु यह साधारण संस्कार भी तो कवि की अनुभूति से ही बना है—अथवा यो कहिए कि यह अनेक कवियों की अनुभूतियो का संघात ही तो है। और फिर, 'मानस' का

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय संस्करण, पृ० २१३।

जनक-वाटिका-प्रसंग जनमानस के साधारण संस्कार का बिम्बमात्र नहीं है—तुलसी के तद्विषयक मनोबिम्ब का शब्द-रूप है। इसलिए बाबूजी द्वारा प्रतिपादित विषय-सत्ता भी अन्ततः विषयिगत ही सिद्ध हो जाती है और उनका मतभेद मूल सिद्धान्त से न रहकर बलाबल मात्र तक सीमित रह जाता है—अर्थात् उन्हें ऐसा लगा है जैसे मैंने पूरा बल कवि की विशिष्ट अनुभूति पर ही केन्द्रित कर 'साधारण' संस्कार की उपेक्षा कर दी हो। परन्तु ऐसा तो है नहीं—मैंने तो कहीं भी कवि की अनुभूति को 'विशिष्ट' या 'वैयक्तिक' अनुभूति नहीं माना।

दूसरा आक्षेप यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक स्थिति में आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित करना हमारे लिए सम्भव नहीं है, इसी प्रकार प्रत्येक स्थिति में कवि के साथ तादात्म्य करने में भी कठिनाई हो सकती है। जिस प्रकार आश्रय की भावनाएँ हमारी भावनाओं के सर्वथा विपरीत हो सकती हैं, इसी प्रकार कवि की भी। उदाहरण के लिए, यदि कोई प्रगतिवादी कवि विद्रोह की उग्र भावना से अभिभूत होकर भारतीय परम्पराओं का उपहास करता है या चिरन्तन प्रयोगशीलता का आग्रही कवि जीवन के शाश्वत मूल्यों पर व्यंग्य करता है तो उसके साथ हमारा तादात्म्य कैसे हो सकता है, अर्थात् उक्त प्रगतिवादी या नये कवि की अनुभूति का साधारणीकरण कैसे माना जा सकता है? साम्प्रदायिक भक्त-कवियों के सम्बन्ध में भी यही समस्या सामने आती है। उनके 'सहचरी भाव' का साधारणीकरण किस प्रकार हो सकता है? इस समस्या का समाधान भी कठिन नहीं है। ये सभी परिस्थितियाँ वास्तव में ऐसी हैं जहाँ स्वयं कवि अपनी भावना का साधारणीकरण करने में असमर्थ रहता है—साम्प्रदायिक चेतना अथवा राजनीतिक या साहित्यिक पूर्वग्रह के कारण उसकी अनुभूति विशिष्ट ही रहती है और, जब कवि स्वयं ही अपनी अनुभूति के साधारणीकरण में असमर्थ रहता है तब पाठक या पाठक-समाज के चित्त में समान अनुभूति का उद्बोध वह कैसे कर सकता है? इस प्रकार मूलतः अ-साधारणीकृत या साधारणीकरण के अयोग्य कवि-अनुभूति का उदाहरण देकर हमारी स्थापना को असिद्ध नहीं किया जा सकता। वास्तव में उपर्युक्त उदाहरणों में तो अनुभूति व्यक्तिगत ही

[illegible] जाती है, [illegible] सहानुभूति [illegible] नहीं पाते, क्योंकि [illegible] [illegible] पाता-- [illegible] ([illegible])' [illegible] है और [illegible] होती। इसके विपरीत [illegible] अभिव्यक्ति [illegible] हो जाता है, जैसे कि 'मेघनाद वध' में, [illegible] पाठक भी [illegible] सहानुभूति की भूमि पर [illegible] देता है।

[illegible] निकलता है कि साधारणीकरण [illegible] कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई कवि अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि [illegible] हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में 'जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।' यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारी घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भावविशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माइकेल को रावण से सहानुभूति है इसलिए 'मेघनाद वध' का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छभाव जाग्रत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो यह

१. वर्ग-चेतना और साम्प्रदायिक चेतना भी व्यक्ति-चेतना का ही प्रक्षेपण मात्र है।

प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास्य या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जाग्रत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्थाओं में आएगा। आश्रय यदि भिन्नलिंगी है—पुरुष पाठक के सामने 'खण्डिता' का विरह-निवेदन या नारी पाठक के समक्ष खलनायक की मनुहारों का वर्णन है, तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि हम न खण्डिता से तादात्म्य करते है और न खलनायक से। हमारा तादात्म्य तो इन बिम्बों द्वारा व्यक्त कवि-भाव के साथ होता है। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं में जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़े ही स्थापित करते है। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते है। अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जाग्रत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता मे हमारी परम्परागत पूज्य-बुद्धि है, तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पाएँगे। ऐसी दशा मे हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृंगार की नही। इसके विपरीत 'कुमारसंभव' या रीतिकालीन राधा-कृष्ण-प्रेम-प्रसंगों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति-युग के कवि की तद्विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमे कोई मानसिक ग्रन्थि नही थी। यह सीधा सत्य है जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनवगुप्त भारत की अव्यवितगत काव्य-परम्परा के कारण, और दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्ल जी अपनी वस्तुपरक या नैतिक रस-दृष्टि के कारण, अभिज्ञ होते हुए भी, सर्वथा स्पष्ट रूप में व्यक्त नही कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाए। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार संभव

होता है ? यह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है ? स्वदेश-विदेश के पण्डितों ने इसके दो उत्तर दिए हैं—१. साधारणीकरण भाषा या काव्य-भाषा का धर्म है, २. साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है ।

पहले उत्तर में भट्टनायक और अभिनवगुप्त की ध्वनि है । भट्टनायक काव्य (काव्यमय शब्द) में ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप से आप साधारणीकरण हो जाता है । अभिनवगुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्वप्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं । विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खंडों और भावों को समान रूप से सबकी चेतना में जगा सकें । ज्ञान और भाव वास्तव में एक-दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो सस्थान हैं : ज्ञान पहला सस्थान है, भाव दूसरा । कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक-विशेष, हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है । भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं । एक वह जिसमे प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरा वह जिसमें भाव भी जगाते हैं । पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार मे लाते है, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणो मे—जब हमारे अपने भाव प्रतीकों पर आरुढ होकर उन्हे इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुननेवालों के हृदयों में समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है । तात्पर्य यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन की शक्ति मूलतः हमारे भावो से ही प्राप्त होती है । अब यदि आप पूछे कि एक व्यक्ति का भाव दूसरो के हृदयों मे समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है, तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है । मानव-मानव के हृदय में (भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि मे समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है । आपको चाहे इस कथन मे रहस्यवाद की गन्ध आए, परन्तु

मनोविज्ञान, शरीरशास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

अतएव साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है; और प्रयोक्ता के भावों की संवेदनशक्ति का आधार है—मानव-सुलभ सहानुभूति।

भाव-शक्ति थोड़ी-वहुत सभी में होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही सम्भव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर वह उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।"[1]

---

१. 'रीतिकाव्य की भूमिका' से उद्धृत।

निषाद बाँसुरी

[१]

सप्तमी का चाँद कब का डूब चुका है। आधी रात ढल गयी है। सारा वातावरण ऐसा निरव-निर्जन पड़ गया है गोया यह शुक्ला सप्तमी न होकर शुद्ध नष्ट-चन्द्र निशा हो। अभी-अभी हमारी नाव 'झिझिरी' अर्थात् नौका-विहार खेल कर लौटी है। नाव को तट से बाँधकर चन्दर भाई फिर 'गलई' अर्थात् इसके अग्रभाग पर आ विराजते हैं और प्रस्ताव करते हैं : "यार, अब सोने कौन जाये? पहर-डेढ़ पहर जो रात बची है, बातें करते-करते काट देंगे।" इधर चार-पाँच वर्षों से जब मैं घर आता हूँ तो एक पूरी सन्ध्या और उससे जुड़ी हुई रात्रि अपने बाल-सखा चन्दर माझी को समर्पित करता हूँ। अपनी प्यारी नदी के सान्निध्य में जिसकी सेवा वे जन्म से ही बड़े मनोयोगपूर्वक कर रहे हैं, मैं इनका आतिथ्य ग्रहण कर कृतकृत्य होता हूँ और ये मुझे नौका नयन के दो-चार गीत सुनाते है, और सबसे बढ़कर चन्द्रविगलित ज्योत्स्ना मे नदी के एकान्त वक्ष पर झिझिरी खेलने का अवसर देते है, तब मेरा आदिम निषाद-मन मुझे कुछ क्षणो के लिए पुनः इस जन्म मे भी मिल जाता है। मेरा विश्वास है, और मै इसे 'विश्वासं अप्रमेयम्' अर्थात् प्रमाण-अप्रमाण के द्वन्द्व से परे का विश्वास मानकर बैठा हूँ, कि किसी जन्म मे मै गंगातीरी निषाद अवश्य था अन्यथा इस नदी के प्रति इतनी मोहमाया, इसमें इतना माँ-जैसा भरोसा और बल क्यों अनुभव करता! नदी के प्रति आसक्ति ही शायद यह कारण है कि यह अँगूठियाँकेशी, गठीला वदन, निरक्षर निषाद युवक मेरा इतना घनिष्ठ हो उठा है।

यों भी चन्दर है बादशाही तबियतवाले। बात के धनी, मन से उदार और विपत्ति मे घोर साहसी। हाथ मे अंकारी रहने पर जल या थल के किसी श्वापद का सामना करने को तैयार। गत वर्ष, ब्याहने गये एक को, पर लौटे दो के साथ और दोनो बहुओं का क्या ही कवित्वपूर्ण नाम

रखा है 'रूपसी' और 'पियासी', जो गंगा की धारा में पायी जानेवाली दो तरह की मछलियों के नाम हैं। कहते हैं कि बेटे का नाम रखेंगे रोहित। ऐसे 'मन को बड़ो महीप' के साथ मेरी दोस्ती न होना ही अस्वाभाविक होता। मुझे लगता है मीन-मिथुन-जैसी दो बहुओं के बीच वे एक पद्मफूल हैं।

आज मैं घण्टों नौका विहार कर के भी, चन्दर भाई के साथ, थकावट नहीं महसूस कर रहा हूँ। इस सुनसान निरंग-निर्जन में वे अपने पुरुष कण्ठ से सोयी नदी को जगाने के लिए एक पुराने गान की आवृत्ति करते हैं। इस निचाट स्तब्धता में यह गान किसी अपदेवता के कण्ठस्वर-जैसा सुनाई पड़ता है और मैं एकाध बार चन्दर को अँधेरे में भी देखने की चेष्टा करता हूँ कि चन्दर ही हैं न ! क्योंकि इस क्षण में और इस जगह पर क्या ठिकाना कब क्या हो जाये। पास में ही मुर्दाघाट है। आखिर रात तो इन्ही रात्रिचरों के हिस्से में है। हमारे हिस्से में तो दिन है, जिसमें ये सब चुपचाप अदृश्य या निश्चल रहते हैं। पर जैसे-जैसे रात भीगती जाती है, श्वापद-आरण्यक, पेड़-पल्लव, घाट-बाट, भूत-प्रेत सभी धीरे-धीरे जग जाते हैं और उस समय वे या तो काना-फूसी करते हैं अथवा निःशब्द एवं क्रूर आहार-विहार। यदि ऐसे में कोई हँसे, कोई गान गाये, कोई इनके एकान्त में खलल डाले तो फिर ये भी उसे दण्डित कर सकते हैं। मैं डोंगी के चौड़े तख्ते पर लेटा हूँ और चन्दर 'गलई' पर बैठे-बैठे गान भरपूर खुले कण्ठ से गा रहे हैं। सुनते हुए मुझे लगता है कि हम दोनों बन्धु किसी भी भूत-प्रेत से कम नही।

"गंगा मैया,
कोई जे सोवेला रन बन,
कोई जे बेड़लिया बने हो !
कोई जे सोवेला बलुआ के रेतवा
त' तोहरे सरन धइले हो !

गंगा मैया,
राजा जे सोवेला रन बन,
रानी बेड़लिया बने हो !

भगता रा गोसैया बालू म फँसला,
हे गोसैं भवन चढ़ो हो !

निषाद प्रार्थना कर रहा है : "ओ माता, ओ गंगा मैया, सोयी हो या जागी हो ? जल्दी उठो मैया, मेरी छोटी सी नाव, मेरी 'डोंगी' इस बालू के ढेर में अटक गयी है । माँ, मैं तुम्हारी शरण में नित्य रहनेवाला निषाद हूँ । तुम्हारा ही भरोसा रखकर चलता हूँ । ओ माँ, राजा तो रण-भूमि में शिविर में सोता है, रानी महल में सुवासित सेज-भवन में सोती है, पर मैं दीन निषाद तुम्हारे तट की बालू-भरी रेती पर सोता हूँ और तुम्हारे बल पर निर्भर रहता हूँ । आज मेरी नौका 'घोर बालू' में फँसी है और बालू नाग की तरह कुण्डली मारकर बैठा । नाव भीतर धँसता जा रहा है । माँ, अब मैं थका ! जागी हो या सोयी हो जल्दी उठो । मैं, मेरी नाव, नाव पर लदा माल, सब तुम्हारी शरण में ।" नदी रात-भर श्वापदों और आरण्यकों को पानी पिलाती रही है । अभी-अभी सोयी है । अभी वह कच्ची नींद या 'बालिका नींद' में है । उसकी 'बारी नींद' में निषाद का करुण आवाहन खलल डाल रहा है । पर नदी को जगना ही पड़ता है । नदी के बिना नदी के आशीर्वाद के मात्र बाहु-विक्रम से कोई पार नहीं पा सकता । इसी से निषाद कातर कण्ठ से प्रार्थना कर रहा है : माँ, जल्दी कर, अब भरोसा टूट रहा है । नदी की 'बारी नींद' टूट जाती है और वह आँख मलती उठती है, पहचानती है कि यह और कोई नहीं उसकी बालू पर आजन्म खेलने-खानेवाली उसकी प्यारी सन्तान ही है । नदी उठकर भरमुँह, कण्ठ खोलकर, अशीष देती है, नखशिख-रक्षा कवच देती है और साथ ही नाव के अन्दर वेग भरती है । इस प्रकार कर्त्तव्य का, कर्म का भार लादे हुए वह नाव धर्म के घाट जा लगती है जो सबसे सुरक्षित घाट है और सार्थ सुरक्षित पार उतर जाता है ।

स्तब्ध निचाट रात मे मानवकण्ठ का ऐसा मुक्त प्रार्थना सगीत निश्चय ही क्रुद्ध रात्रिचरों को, कपटी कामरूपी अपदेवताओं को और साँप-जैसी फण काढ़े वन्या की क्रुद्ध लहरों को, सब कुछ को, अपने वशीकरण से बाँध सकता है, ऐसा अनुभव करते-करते मैं इस गान को सुन रहा था, और

बिना दाद या प्रशंसा की प्रतीक्षा किये हुए चन्दर एक गीत के वाद दूसरा गीत उठाते जा रहे थे। लगातार पाँच गीत मैं सुनता रहा, एक से एक अपूर्व। अन्तिम गीत का भाव कुछ इस प्रकार था : "ओ नदी, ओ माता, मेरी नाव पूरव देश से धीमे-धीमे लौट रही है। यह नाव तुम्हारी पूजा के लिए रँगी हुई पियरी से वोझी है, तिरंगी चुनरी से वोझी है, इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो। ओ माँ, यह नाव तुम्हारे शृंगार के लिए हार-फूल से वोझी है, जवाकुसुम और कनेर से वोझी है, तुम्हारी सात पुष्पांजलियों के लिए इस पर केले के पत्तों पर शेफाली के फूल लदे हैं, इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो। ओ माँ, इस नाव पर तुम्हारी माँग के लिए सिन्दूर और श्रीअंगों के लिए हल्दी वोझी गयी है। इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो। ओ माँ, यह नाव तुम्हारे चरणों पर अर्घ्यधार गिराने के लिए लौग-मधु और दूध के सात घटों से वोझी है। इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो।"

गान के अन्तिम भाग में नदी अपने निषाद-शिशु की वात सुनकर भरमुँह अर्थात् मुक्तकण्ठ कलकल ध्वनि से आशीर्वाद देती है : "ओ निषाद, जैसे मेरे जल को कोई काटकर दो टुकड़े नही कर सकता वैसे ही तू भी अखण्ड-अच्छेद्य है। और जवतक मैं हूँ, जवतक मेरी धारा है, तव तक तू भी वर्तमान है।" गीत सुनकर मुझे लगा कि यह नदी हाथ उठाकर कुछ और भी कह रही है जिसे चन्दर सुनते हैं, पर समझ नहीं पाते हैं, परन्तु मैं खूब समझ रहा हूँ। मुझे लगा कि नदी कह रही है कि ओ निषाद, तेरी संस्कृति, तेरे संस्कार, तेरा मन, सव कुछ इस जल की तरह है, जो टूटता नहीं, कटता नही, भले ही दव जाता है और आकृति वदल लेता है, पर अस्तित्व-हीन नही होता है—यहाँ तक कि सूख जाने पर भी या तो अन्तःसलिला का अंग वन जाता है या उड़कर मेघ वनकर पुनः लौटता है।

भारतीय धरती के आदि-मालिक निषाद ही थे। भारतीय भाषाओं में मूल संज्ञाएँ, भारतीय कृषि के मूल और आदिम तरीके और भारतीय मन के आदिम संस्कार उन्हीं की देन हैं।

इस अर्थ में निषाद-द्रविड़-आर्य-किरात इन चारों महाकुलों में निषाद

ही अलग है। परन्तु मगधदेश आदि कुछ क्षेत्रों को छोड़कर इसका इतना घोर आर्यीकरण हो चुका है कि आज यह पहचाना नहीं जा सकता। ऊपर-ऊपर से यह स्वयं निषादत्व गौरव भले खो चुका है पर भीतर-भीतर समाज का भारतीय आर्य का अंग निरीक्षण करें, तो पता चलता है कि इस महानायक के अर्थात् इस पितर भारतवर्ष के इतिहास वपु की शिरा-धमनी में निषाद-मन प्रवाहित है, स्नायुमण्डल की रचना द्रविड़ संस्कृति करती है, अस्थि-चर्म की रचना में किरात-संस्कृति की रंग-बिरंगी बिनावट है और इसके मनोमय कोषों की रचना आर्य-सरस्वती करती है। चन्दर के अन्दर तो निषाद-संस्कार है ही। वह तो गंगातीरी निषादों की सातों आर्यीकृत 'कुरियों' में से एक से सम्बन्धित ही है, जिन्हें राम-चन्द्र ने पावन कर दिया था। परन्तु यह मैं जो अपनी 'स्वधा' को 'वत्स-भृगु-यमदग्नि-च्यवन-आप्नवान' के पंचप्रवर में जोड़ता हूँ, मैं भी इस आदिम निषाद से वंचित नहीं हूँ। मेरे संस्कार प्रवाह में भी यह बैठा है। मेरी भाषा, मेरे भोजन-पान, मेरी खेतीबारी-हरवा-हथियार के मध्य वह कृष्णकाय आदिम निषाद निरन्तर अपने को व्यक्त कर रहा है, जिसने विश्व में सर्वप्रथम इसी गंगा की घाटी में धान-चावल का आविष्कार किया था, भैंस को दुधारू बनाया था, जड़ी-बूटियों और फलों को पह-चाना था और उन्हें नाम दिया था तथा खेती के औजारों को गढ़ा था। चन्दर भाई के गुरु रामदेवाजी के मुँह से मैं निषाद कुल की गरिमा की अनेक ऊलजलूल बातों को सुनता आ रहा हूँ और आश्चर्य होता है कि कभी-कभी उन बातों का आधुनिक भाषाविज्ञान और पुरातत्त्व से अजब सटीक तालमेल बैठ जाता है।

चन्दर मुझसे अकसर कहा करते हैं : "अरे हम लोग जरा काले हैं, नहीं तो आप लोगों से नीच थोड़े हैं।···" और प्रमाण न पूछने पर भी रामदेवाजी की अपूर्व ऊल-जलूल थ्योरी का सन्दर्भ तुरंत देते हैं, जिसे सुन-कर मैं भौंचक्का रह जाता हूँ। तर्क करने जाऊँगा तो चन्दर डपटकर कहेंगे—"अरे गोसाईंजी को पढ़ो, गोसाईंजी को ! है न ? 'तुलसी सुनि केवट के वर बैन हँसे प्रभु जानकि ओर हहा है।' सोचो जरा, प्रभु जानकी की ओर देखकर क्यों हँसे ! क्यों न लक्ष्मण की ओर देखकर

हँसे ? बोलो ?" और यह सब सुनकर क्या बोलूं, मेरी तो सरस्वती ही बेहोश हो जाती हैं। चन्दर माझी स्वयं समाधान करते है : "अरे भाई, गोसाइंजी बडे सावधान लेखक थे। उनके एक-एक 'लफ़्ज' का भी मतलब है, बेमतलब तो उन्होंने कुछ कहा ही नहीं है। यहाँ पर मतलब यह है कि और तब गुरु रामदेवाजी की शैली में तर्जनी नचाते हुए चन्दर भाई तौल तौलकर शब्दों की चोट करते है, "मतलब यह है कि, रामचन्द्रजी सीता-जी की ओर इशारा कर रहे हैं, कि यह निषाद तो समवर्ण का है, अतः कही पाँव धोने के हठ के बहाने कन्यादान करने का उपक्रम तो नहीं कर रहा है ? पर इस गूढ़ भाव को सबके सामने कैसे कहें। इसी से सीता की ओर नजर मारकर हँस देते हैं।" मुझे स्मरण है कि जिस दिन प्रथम बार इस थ्योरी से परिचित हुआ था, उस दिन अपनी सारी पढी हुई विद्या को धिक्कारता हुआ घर लौटा था।

पहली बार यह बात ऊटपटांग अवश्य लगी थी। परन्तु कालान्तर में भारत की मौलिक जातियों के सम्बन्ध मे श्री बी. एस. गुहा, डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या और डॉ. हटन आदि के प्रबन्धों को पढ़ने पर मुझे लगा कि इक्ष्वाकुओं और निषादों की कुल परम्परा के सन्दर्भ में यह थ्योरी अक्षरशः सत्य भले ही न हो, परन्तु यह सारी बात बिलकुल वृषभ-दुग्ध या शश-शृंग-जैसी भित्तिहीन नही। आधुनिक पण्डितों का विचार है कि रामायण की मिथक निपाद-कल्पना से प्रसूत है।

निषाद वृषाकपि देवों और अपदेवताओं को पूजनेवाली जाति है। वैदिक आर्यों में अवतारवाद स्वीकृत ज्ञात होता है, परन्तु अत्यन्त हलके तौर पर। 'त्रिविक्रम विष्णु' या 'गोपा विष्णु' के उल्लेख अवतार के द्योतक न होकर देवता के बहुरूपी रूपान्तर के द्योतक हो सकते हैं। देवता प्रेममय है और हमारे त्राण के लिए वह 'माया वपु' धारण करता है, इस तथ्य का दृढ़ आधार वैदिक मन्त्रों में नही मिलता है। इसी से आधुनिक विद्वानों की कल्पना है कि भारतीय संस्कारों में अवतारवाद का प्रवेश निषादों-जैसी आनन्दवादी और द्रविड़ों-जैसी भाववादी जातियों की कल्पना का दान है।

इस सन्दर्भ में स्मरण रखने की बात यह है कि रामायण की मिथक

के प्रधान सम्पादक वाल्मीकि की छन्द-सरस्वती का जागरण एक निषाद द्वारा किये गये क्रौंचवध के फलस्वरूप ही सम्भव हुआ था । पूरी रामायण की कथा भले ही निषाद-कल्पित न हो, परन्तु उसके ताने-बाने में कुछ प्रसंग और कुछ विश्वास तो अवश्य ही ऐसे हैं जो निषादों में प्रचलित रहे होंगे । सम्भवतः वाल्मीकि के समय निषादों में किसी उनके ही रंग के अनुरूप "नील सरोरुह श्याम तरुण अरुण वारिज नयन" देवता की कल्पना एवं उसके सहज अवतरण में विश्वास प्रचलित रहा होगा, जो आकर इन निषादों को पाप-ताप से मुक्त करके गले लगायेगा और पंक्ति-पावन कर देगा ।

किसी चरम देवता अथवा परम पुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा बहुत काल से निषाद जाति कर रही थी । किसी 'दूर्वादलश्यामं' देवता के आगमन की, उसके द्वारा महिमा-मण्डित और पुण्यशाली बनाये जाने की कल्पना पुरुष-प्रति-पुरुष निषाद जाति करती आ रही थी, और इसी बीच मे इक्ष्वाकुओं के आर्यकुल मे एक प्रतापशाली राजपुरुष का जन्म हुआ, और उसके शील-स्नेह और चरित्र मे तथा शताब्दियों प्रतीक्षित देवकल्पना में साम्य दिखाई पड़ा, और यह साम्य निषादों में प्रचलित अवतार की कल्पना के चौखट में पूरा-पूरा उतर गया तथा उन्होंने उक्त इक्ष्वाकुवंशीय कुमार को, उसके अलौकिक कर्म को, अपने महादेवता के अवतरण के रूप मे देखा । ऐसा होना असम्भव नही ।

परम्परा के अनुसार वाल्मीकि ने जब राम को अपने महाकाव्य का नायक चुना, तो उनकी प्रज्ञा मे उक्त निषाद-विश्वास निरन्तर सक्रिय रहा और उन्होंने गौरवर्ण आर्यवंशीय कुमार को दूर्वादल श्याम एवं नीलोत्पल श्याम रूप में देखा, तथा कथा के अन्दर वृषाकपियों का प्रसंग लाकर निषाद-कल्पना को पुनः नया सस्कार दिया । वाल्मीकि गंगा और तमसा के बीच के अरण्य मे रहते थे और प्रचलित निषाद-विश्वासों से उनका न प्रभावित होना ही अस्वाभाविक होता । रामकथा इस बात का प्रमाण है कि गंगातीर के निषादों का जीवन रामचन्द्र द्वारा ही संस्कार-समृद्ध किया गया है । अतः राम का उनकी कल्पना के केन्द्र में प्रवेश कर जाना असम्भव नही । हो सकता है कि निषादों की कल्पना रही हो कि उनका

प्रिय देवता जब माया-मनुष्य बनेगा, तो उसे विमाता दुख देगी, उसे वन-वन भटकना पड़ेगा, वह दुखी देवता ही निषादों का आलिंगन कर के उन्हें परम पावन और शुद्ध बनायेगा और वही देवता ऐसा सुशासन स्थापित करेगा कि धरती पर से रोग-शोक-पाप की छाया हट जायेगी और दुखी कोई नहीं रहेगा। और इस निपाद-कल्पना को राम के ऐतिहासिक चरित्र में वाल्मीकि ने सम्भवतः अन्तर्भुक्त कर दिया है।

यह तो सभी जानते हैं कि असम, बंगाल या अन्य प्रदेश की निषाद जातियों यथा कैवर्तों, धीवरों, तीयरों या मध्यप्रदेश के मुण्डा, कोल आदि को जो भी माना जाता रहा हो, परन्तु सनातन से गंगातीरी केवटों और माझियों को पवित्र माना जाता रहा है, तथा उनके द्वारा स्पर्श किया हुआ जल सनातन काल से ग्रहण किया जाता रहा है, क्योंकि रामचन्द्र और बाद में इक्ष्वाकुओं के कुल-पुरोहित वशिष्ठजी ने निषादराज का आलिंगन कर के उनकी अस्पृश्यता समाप्त कर दी थी और उन्हें आर्य-महिमा से मण्डित कर दिया था। रामनाम की सील मुहर के आगे मनुस्मृति भी नतमस्तक है। इस मिथकीय प्रसंग का ऐतिहासिक तात्पर्य यह है कि इक्ष्वाकुवंशीय आर्यों के संसर्ग में आकर गंगातीर के निषादगण आर्य सभ्यता के अन्तर्गत आ गये। यहाँ तक कि निषादों ने भाषा भूलकर आर्य भाषा को ही मातृभाषा मान लिया। उनका खान-पान, रहन-सहन, आर्यों की पद्धति पर यथा सामर्थ्य चला गया। गंगातीर के केवट कहते हैं कि रामचन्द्रजी ने उन्हें दो हुक्म दिये थे। एक तो नाव को तट पर बाँधकर भी जल में ही छोड़ देना, घसीटकर बालू पर नहीं करना। दूसरा यह कि कच्ची मछली कभी मत खाना। सदा नमक-हल्दी-सरसों देकर मछली खाना या भूनकर नमक के साथ खाना। यह दूसरी आज्ञा देखने में भले ही साधारण लगे, पर उनके अन्दर नागरिकता और आर्य रीति के प्रवेश कराने का प्रयत्न है। अन्य प्रदेशों के निपादों की अपेक्षा गंगातीर के निपादों की चाल-चलन, कथन-भंगिमा आदि में विशिष्ठ गौरव झलकता है। अन्य जातियों के अपने-अपने लोककाव्य हैं, यथा अहीरों की 'लोरकी', कहारों का 'बिहुला' आदि। निपादों में नौका-नयन और प्रेम सम्बन्धी फुटकल गीत अवश्य हैं, परन्तु कथाकाव्य की जगह वे तुलसीदास

की रामायण ही गाते हैं। राम ही उनके लोक-नायक हैं, अन्य कोई नहीं। राम के प्रति उनमें एक सहज समर्पण और मोह है : "तुम केवट भव सागर केरे। नदी नाव के हम मझोरे।"

पूर्वी उत्तरप्रदेश के गंगातीरी निषादों में सात कुल हैं : केवट, चाँई, बनवा, धीवर, तीयर, गोरहिया और मुण्डार (मुण्डार शब्द 'मुण्डा' से मिलता-जुलता है, जो मध्यप्रदेश की एक आदिम-वंचित निषाद शाखा का नाम है और हो सकता है कि सुदूर अतीत में इनमें कोई सम्बन्ध भी रहा हो।) इन सात कुलों में रामचन्द्र का सखा निषादराज गुह किस कुल का था ? चन्दर भाई तो कहते हैं कि निषादराज चाँई थे। हमारे गाँव में चाँई और केवट दोनों हैं, और दोनों यह गौरव लेना चाहते हैं। चाँई कहते हैं कि जेठे तो हमी लोग हैं। शृंगबेरपुरवाले केवट हैं या चाँई, मुझे पता नहीं। पर गोस्वामीजी ने साफ़ लिखा है : 'माँगी नाव न केवट आना।' अतः मैं कहता हूँ कि शृंगबेरपुर का निषाद चाँई नहीं, केवट ही था। तब चन्दर के लिए इतने बड़े कुल-गौरव को छोड़ना मुश्किल हो जाता है और वे हठपूर्वक कहते हैं : "यहीं पर ज़रा-सी, बिलकुल ज़रा-सी, भूल गोसाईंजी से हो गयी है। बात यह है कि वे ब्राह्मण थे और हम लोगों की कुरी वगैरह भीतरी बातें वे क्या जानें ? उन्हें लिखना चाहिए था 'चाँई' तो लिख दिये 'केवट'। आख़िर जेठी कुरी तो हम चाँई ही हैं। सभा का सरदार तो चाँई ही होता आया है।" चन्दर के अनुसार शुद्ध पाठ होना चाहिए 'माँगी नाव न चाँई आना।' या 'सुनि चाँइहि के बर बैन हँसे प्रभु जानकि ओर हहा है' आदि। मैं समझता हूँ कि भाई चन्दर, चाँई लोग तो इससे भी बृहत्तर गौरव के अधिकारी हैं। यह चाँई निषाद ही था, जिसके बाणों से क्रौंचवध हुआ था और फल हुआ वाल्मीकि की छन्द-सरस्वती का जन्म। चाँई नहीं होता तो रामायण ही लिखी नहीं जाती। अतः चाँई का कम महत्त्व नहीं। परन्तु तो भी चाँई कुल-कमल-दिवाकर चन्दर निषाद इस प्रश्न पर सन्धि नहीं करते और अपनी ही फेंटते जाते हैं कि गुह निषाद उनके ही कुल 'चाँई' का पूर्वपुरुष था। अन्त में मुझे चाँई-गौरव के प्रति नतमस्तक होकर चुप हो जाना पड़ता है।

मैं अपनी जन्मभूमि गंगातट से प्रायः दूर रहने को बाध्य हूँ और